अध्यात्मतत्त्वविज्ञान-मन्दिर-ग्रन्थमाला-१

निद्रा या सुषुप्ति

(अध्यात्मशास्त्रीयविश्लेषण)

प्रतीच्य मनोविज्ञान आदि शास्त्र तथा भारतीय अध्यात्म-शास्त्र
की चिन्ता के मौलिक ऐक्य के आधार पर प्रस्तुत
गवेषणा-ग्रन्थ जिसमें योगजप्रज्ञा की गभीरता
को प्रमाणित किया गया है।

आदरणीय मनीषी
श्री नवजीवन रस्तोगी जी को
सादर उपहृत-

रामशंकर भट्टाचार्य
12/103 सोनारपुरा, वाराणसी

कापिलमठाचार्य-लब्धयोगज्ञान
श्री रामशंकर भट्टाचार्य
एम० ए०, पी-एच० डी०, व्याकरणाचार्य

An epoch-making work of Dr. R. S. Bhattacharya

(To be published in 10 volumes)

HISTORY OF YOGAVIDYA

Each volume contains a description of Yogic practices as well as the philosophical discussions on the nature of mind, body and objects.

Vol. (i) Yoga in the Vedas.

Vol. (ii) Yoga in the Upavedas, Angas and the Upangas.

Vol. (iii) Yoga in the Epics and the Puranas.

Vol. (iv) Yoga in the Saiva Agamas and in the Texts of the Saiva Sects.

Vol. (v) Yoga in the Vaisnava Agamas and in the Texts of the Vaisnava Sects.

Vol. (vi) Yoga in the Sakta Agamas (Tantras) and in the texts of the Sakta Sects.

Vol. (vii) Yoga in the Buddhistic literature.

Vol. (viii) Yoga in the Jaina literature.

Vol. (ix) Yoga in the Minor Religious Sects.

Vol. (x) Yoga and Modern Thought.

अध्यात्मतत्त्वविज्ञानमन्दिरग्रन्थमाला (१)

निद्रा या सुषुप्ति

(अध्यात्मशास्त्रीय विश्लेषण)

प्रतीच्य मनोविज्ञान आदि शास्त्र तथा भारतीय अध्यात्म-शास्त्र
की चिन्ता के मौलिक ऐक्य के आधार पर प्रस्तुत
गवेषणा - ग्रन्थ जिसमें योगजप्रज्ञा की
गभीरता को प्रमाणित किया गया है।

कपिलमठाचार्यलब्धयोगज्ञान
श्री रामशंकर भट्टाचार्य
एम० ए०; पी-एच० डी०; व्याकरणाचार्य

दी एस्ट्रोलॉजिकल रिसर्च हॉल
डी० ३८।१३४ हौज कटरा, वाराणसी—१

लेखक की ओर से
दि एस्ट्रोलॉजिकल रिसर्च हॉल
डी० ३८।१३४ हौज कटरा
वाराणसी—१ द्वारा प्रकाशित

मूल्य—एक रुपया

प्रथम संस्करण १९६९ ई०

मुद्रक
जय भारत प्रेस,
बाँसफाटक, वाराणसी—१

समर्पण

भारतीय अध्यात्मशास्त्र के तलस्पर्शी ज्ञान को
विश्व में प्रचारित करने वाले
मेरे अध्यात्मजीवन के प्रेरणास्रोत
नवजाग्रत् भारत के हृदयसम्राट्

स्वामी विवेकानन्द

को

यह ग्रन्थ समर्पित है



प्रकाशकीय वक्तव्य

एस्ट्रोलॉजिकल रिसर्च हॉल, काशी की मान्यता रही है कि ऋषियों का तत्त्वज्ञान एक विज्ञान है तथा विश्व के सभी ज्ञान-विज्ञान इस तत्त्वज्ञान के सहायक ही हैं। इस संस्था ने इस दृष्टि को प्रमाणित करने के लिये ज्योतिष के माध्यम से जो कार्य किया है, वह सर्वविदित है।

संस्था के मूल उद्देश्य के साथ पूर्ण संगति इस ग्रन्थ की है और इसीलिये हमने इस हिन्दी ग्रन्थ को प्रकाशित करने का निश्चय किया है। इस लघु ग्रन्थ में निद्रासंबन्धी हमारी अध्यात्मदृष्टि को प्रमाणित करने के लिये चेष्टा की गई है। प्राचीन मत का स्पष्टीकरण भी इस ग्रन्थ में पर्याप्त मात्रा में मिलेगा।

इस ग्रन्थ के लेखक श्री रामशंकर भट्टाचार्य प्राचीन भारतीय ज्ञान के प्रति श्रद्धा रखने वाले विद्वानों में अन्यतम हैं। वर्षों से आप अपनी दृष्टि को विचारकों में प्रचारित कर रहे हैं। वेद, पुराण, सांख्य, योग तथा शब्दशास्त्र—इन विषयों पर अंग्रेजी, संस्कृत, हिन्दी एवं बंगला में आपके अनेक ग्रन्थ तथा लेख प्रकाशित हो चुके हैं, जो आपकी मेधा एवं विशाल अध्ययन का ज्ञापक है।

हमारा आग्रह है कि इस ग्रन्थ में निद्रासंबन्धी जो विचार व्यक्त किये गये हैं, उनकी परीक्षा हो। भारत के प्रत्येक मनोविज्ञानी से हमारा अनुरोध है कि वे इस ग्रन्थ में व्यक्त किये गये मतों की आलोचना कर सत्यासत्य का पर्यवेक्षण करें। इससे हमारे प्राचीन अध्यात्मविज्ञान के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त होगा। हम भारतवासी का आत्मगौरव इससे बढ़ेगा, एवं हमारा मस्तक उन्नत होगा।

———

लेखक का निवेदन

हमारे ऋषियों ने अपनी ध्यानज प्रज्ञा से बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् का जो विश्लेषण किया था उस विश्लेषण से आधुनिक शिक्षित लोगों का परिचय कराना ही मन्दिर की इस ग्रन्थमाला का उद्देश्य है। बाह्य और आन्तर जगत् के प्रत्येक मुख्य पदार्थ पर पृथक्-पृथक् ग्रन्थ में विचार करना मेरा उद्देश्य है।

राजनीतिक दृष्टि से हम स्वतन्त्र हो चुके हैं, पर मानसिक दृष्टि से हम अभी भी पराधीन ही हैं। "हम भारतवासी विश्व को कुछ दे सकते हैं, हमारे प्राचीन मनीषियों ने भी विश्व में देने योग्य चिन्तन किया है"—इस प्रकार की भावना प्रायः शिक्षितों में देखी नहीं जाती। मैं यह दिखाना चाहता हूँ कि जगत्तत्त्व के विश्लेषण में हमारे पूर्वजों की मनीषा सम्यक् तलस्पर्शी है। जीवविद्या, पदार्थविद्या, मनोविद्या, शारीरविद्या आदि विद्याओं के क्षेत्रों में पाश्चात्त्य जगत् में जो असाधारण विकाश हुआ है, वह आर्षज्ञान का बाह्यतः पूरक ही है; किंच यह ज्ञान उन विद्याओं की प्रगति में भी सहायक हो सकता है, यह दिखाना भी इस ग्रन्थमाला का उद्देश्य है।

आचार्य जगदीशचन्द्र वसु महोदय की वाणी इस प्रसंग में स्मरणीय है—"जो भाग्यहीन व्यक्ति अपने को स्वस्थान और स्वदेश से च्युत करता है, जो पर-अन्न में पालित होता है, जो जातीय स्मृति को भूल जाता है, वह किस शक्ति को लेकर जीवित रह सकेगा ? उसके सामने विनाश ही है—ध्वंस ही उसका परिणाम है"।

अध्यात्मतत्त्वदर्शी के ज्ञान को यथार्थ रूप से समझकर उच्च शिक्षित जनों को समझाना ही मेरा मुख्य कर्तव्य है। मुझे किसी संप्रदाय के दृष्टिकोण का प्रचार करना नहीं है। आर्ष मत का पोषक जहाँ भी जो कुछ मिलेगा, आदर की दृष्टि से वह संगृहीत होगा।

मैने अपने गुरुचरण से सबसे पहले यही उपदेश पाया था कि आर्ष अध्यात्मविद्या अपने सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा के लिये किसी की दया नहीं माँगती—यह विद्या प्रयोग-परीक्षण द्वारा सम्यक् प्रमाणित है; और चूँकि कोई भी प्रयोग-परीक्षण कर इस विद्या के मतों की सत्यता को जाँच सकता है, अतः यह विज्ञान है।

इस ग्रन्थ में जो भी मत प्रतिपादित हुआ है, उसके मूल में प्रयोग-परीक्षण का बल है। अध्यात्मशास्त्रीय वादों के पीछे कितनी शक्ति होती है यह तो तभी जाना जा सकता है जब कोई प्रतिवाद करे। मैं विशेषज्ञों से प्रतिवादों का आह्वान करता हूँ।

'निद्रा' विषय पर ही सबसे पहले ग्रन्थ लिखने का हेतु है—हमारे अनेक मित्रों का अनुरोध। इस ग्रन्थ में अनिद्रा के दूरीकरण के लिये कई उपाय यत्र तत्र कहे गये हैं। वे उपाय परीक्षित सत्य हैं। इस ग्रन्थ में उन उपायों का पूर्ण विवरण नहीं दिया जा सका; पर यदि किसी व्यक्ति को निद्रासंबन्धी कोई कष्ट या व्याधि हो तो वे मुझसे संपर्क स्थापित करें एवं ग्रन्थोक्त उपायों का प्रयोग कर अपने जीवन को सुखी बनायें।

अध्यात्मदृष्टि का तात्पर्य उस दृष्टि से है जिसमें सत्त्व-रजः-तमः रूप तीन गुणों (आत्मा के बन्धनकारक तीन मूल उपादान द्रव्य) में सभी अनात्म पदार्थों को मूलतः विश्लिष्ट किया जाता है तथा गुणों के द्रष्टा के रूप में अपरिणामी देशकालातीत पुरुष (= निर्गुण ब्रह्म) की सत्ता मानी जाती है, जो व्यावहारिक आत्मभाव की अभिव्यक्ति के मूल निमित्त हैं। इस विद्या में अष्टाङ्ग योग की अपरिहार्य सत्ता है, क्योंकि योग के माध्यम से ही भूत, तन्मात्र, इन्द्रिय आदि तत्त्वों की उपलब्धि संभव है।

अध्यात्मविद्या में गुणत्रय सर्वाधिक गुरुत्वपूर्ण हैं; सत्त्वरजःतमः मोक्ष शास्त्र के तीन वर्ग हैं—यह हमारी प्राचीन मान्यता है (शान्ति० ५९।३१)। गुणत्रय को समझे विना इस शास्त्र का कुछ भी यथार्थतः समझ में नहीं आता। मोक्षशास्त्र की ही नहीं, धर्मशास्त्र की बातें भी गुणत्रयनिर्भर हैं।

अर्थ-काम के रहस्य भी इसके ज्ञान के विना नहीं जाने जा सकते। विकारभूत प्रत्येक व्यक्त पदार्थ में गुणत्रय किस रूप से हैं तथा सभी व्यक्त पदार्थ किस रूप से गुणस्वभावानुसार ही कार्य करते हैं, पदार्थों का उद्भव, स्थिति और लय किस रूप से त्रिगुण द्वारा नियन्त्रित होते हैं—यह दिखाना ही अध्यात्मदृष्टिसंमत विश्लेषण है। तदनुसार निद्रासंबन्धी प्रत्येक तथ्य की व्याख्या गुणत्रय के अनुसार की गयी है। पाठक को देखना चाहिये कि गुणत्रयानुसार कार्यकारण-भाव को सोचने पर जो संगति प्रतीत होती है, वह संगति अन्य प्रकार की व्याख्या में शायद ही दृष्ट होती हो।

प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय में दो बातें कहनी हैं। इसकी भाषा संस्कृतबहुल है। मेरी धारणा है कि प्राचीन तत्त्वज्ञान को हिन्दी में यदि समझाना हो तो ईदृश भाषा से ही समझाया जा सकता है। इस ग्रन्थ से यह प्रमाणित होगा कि प्रतीच्य विचारसरणि तथा नवीन विज्ञान द्वारा आहृत सामग्री की सहायता से अध्यात्मज्ञानसम्बन्धी व्याख्यान हिन्दी में सफलतापूर्वक किया जा सकता है। प्रत्येक वैज्ञानिक विचार अपनी सूक्ष्मता के साथ संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में अभिव्यक्त हो सकता है—यह मेरा विश्वास है।

मैंने पूर्वाचार्यों के वाक्यों का उद्धरण प्रायेण नहीं दिया, क्योंकि मतों को समझाना ही मेरा लक्ष्य है। यों कोई जिज्ञासु शास्त्रप्रमाण के विषय में कुछ जानना चाहें तो उनको मैं वाञ्छित सामग्री भेज दूँगा।

इस ग्रन्थ में कुछ ऐसे विषय हैं जिनका स्पष्टीकरण नहीं किया जा सका। ग्राह्यविषय, भूततत्त्व, तन्मात्रतत्त्व, इन्द्रिय, प्राण आदि विषयों का स्पष्टीकरण मेरे आगामी ग्रन्थों में द्रष्टव्य है।

मेरे कुछ वैदेशिक अन्तेवासियों ने इस ग्रन्थ के अंग्रेजी संस्करण के लिये आग्रह किया है तथा सहयोग भी दिया है। कुछ परिबृंहित रूप में इस ग्रन्थ का अंग्रेजी रूपान्तर शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

'अध्यात्मशास्त्र के मत अन्धविश्वासी के लिये हैं', इस प्रकार की बातें हमारे देश में सर्वत्र सुनने में आती हैं। इस ग्लानिकारक स्थिति का दूरी-

करण करना शास्त्रविदों का सर्वोच्च कर्तव्य है। यदि यह ग्रन्थ (तथा तन्मात्र आदि परक आगामी ग्रन्थ) इस ग्लानि के दूरीकरण में कुछ भी सहायक होगा कि तो मैं अपने श्रम को सफल समझूंगा।

इस ग्रन्थ को लिखने में मैंने स्वामी हरिहरानन्द आरण्य के ग्रन्थों से जो सहायता ली है; तदर्थ आचार्यचरण के प्रति श्रद्धाप्लुत हृदय से कृतज्ञता का ज्ञापन करता हूँ। व्यावसायिक दृष्टि से अलाभकर एक ग्रन्थ को केवल आर्षज्ञान के प्रचार की दृष्टि से प्रकाशित करने का जो प्रयास प्रकाशक ने किया है तदर्थ उनको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

आर्षमध्यात्मविज्ञानं दिव्यं सर्वजयं शुभम्।
लभताम् आत्मबोधार्थं वरेण्या बुधमण्डली॥

श्री रामशंकर भट्टाचार्य
१३।१०२ सोनारपुरा
वाराणसी

विजयादशमी
(आश्विनशुक्ल १०, २०२६ विक्रम)
२०-१०-१९६९

विषय-सूची

ओम् नमः परमर्षये

निद्रा या सुषुप्ति

(अध्यात्मशास्त्रीय विश्लेषण)

निद्रा का स्वरूप, भेद, उत्पत्ति, नाश तथा जय—इन विषयों पर अध्यात्मशास्त्र में जो विश्लेषण प्रधान दृष्टि मिलती है, उसका परिचय इस ग्रन्थ में दिया जा रहा है।

निद्रा को एक दोष या योगविघ्न के रूप में अध्यात्मशास्त्र में माना गया है तथा उसके परिहार के लिये उपाय भी कहे गये हैं। निद्राके तत्त्व जाने विना निद्रा पर आधिपत्य नहीं किया जा सकता। अतः निद्रा-सम्बन्धी सभी विषयों का विवेचन यहाँ किया जा रहा है। वर्त्तमान काल में आविष्कृत मनोविज्ञान में निद्रासम्बन्धी जो विवेचन मिलता है, उसका उपबृंहण अध्यात्मशास्त्रीय विश्लेषण से किया जा सकता है—यह निश्चित है। अध्यात्मशास्त्रीय विश्लेषण को यथावत् न समझकर अर्वाचीन काल के व्याख्याकार और विचारकों ने निद्रा के विषय में जिन भ्रान्तमतों का प्रसार किया है उनका निराकरण कर अध्यात्मवादियों की दृष्टि को यथावत् रखना (विशेषकर आजकल के नवीन शिक्षित व्यक्तियों के सामने) इस ग्रन्थ का अन्यतम मुख्य उद्देश्य है।

इस ग्रन्थ में जो मत मुख्यतया प्रतिपादित हुए हैं, वे ये हैं--(१) निद्रा या सुषुप्ति चित्त की अवस्थाविशेष है; (२) यह तमःप्रधान अवस्था है; (३) यह शरीरधारी प्राणियों (ब्रह्मा से तृणपर्यन्त) में उद्‌भूत होती है तथा प्राण और शरीर के उत्कर्षापकर्ष का प्रभाव इसकी प्रकृति पर पड़ता है; (४) जिन जातियों (स्थूल-सूक्ष्म-प्राणियों) में सत्त्व गुण का उत्कर्ष है,

उनमें निद्रा की क्रमिक अल्पता है; (५) निद्रा वस्तुतः ज्ञानाभावरूप नहीं है; (६) निद्राकाल में चित्त का संचार रुद्धप्राय रहता है जिसका प्रभाव शरीर पर भी पड़ता है; (७) निद्राकाल में जीव न ब्रह्म में स्थित होता है और न उसको वस्तुतः सत्त्वप्रधान सुख का बोध ही होता है; (८) निद्राकाल में भी निद्रा के साक्षात् बोध का उपायविशेष से उदित रखा जा सकता है; (९) सात्त्विक निद्रा में असाधारण घटनाएँ घट सकती हैं; (१०) निद्रा का रोध अभीष्ट काल पर्यन्त उपायविशेष से किया जा सकता है।

निद्रा का प्रभाव और उपादेयता—यह सभी जानते हैं कि मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्यलाभ (recuperation) के लिये निद्रा अत्यन्त उपादेय है। जैव जीवन (organic life) के लिये यह इतना आवश्यक है कि यदि सहसा किसी व्यक्ति को निद्राहीनता की स्थिति में बलपूर्वक रख दिया जाय तो उसकी मृत्यु तक हो सकती है। किसी व्यक्ति को अनिद्रित अवस्था में दीर्घकाल तक रखना कितना कठिन है—यह परीक्षा कर कोई भी देख सकता है। २-३ दिन तक अनिद्रित अवस्था में रहने पर वह व्यक्ति आच्छन्न या उन्मादवत् अवस्था में पहुँच जाता है। किसी किसी में भ्रान्ति-दर्शन, गन्धर्वनगरदर्शन, असाधारण क्रोध, शिरदर्द तथा नाना प्रकार की पीड़ाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

साधारण व्यक्ति को दीर्घकाल तक अनिद्रित रखकर निद्राहीनता पर गवेषणा करना आधुनिक मनोवैज्ञानिक के लिए कठिन हो गया है। ऐसा पता लगता है कि '६० से ७० घण्टे तक ही अनिद्रित अवस्था में रहने' का उदाहरण परीक्षणार्थ प्राप्त होता है। ये सामान्यदर्शी मनोवैज्ञानिक यदि किसी को प्राणायाम के बल पर श्वासस्थैर्य, आसन के बल पर शरीरस्थैर्य, एवं साधारण प्रत्याहार के बल पर इन्द्रियस्थैर्य का अभ्यास कराएँ और तब उसको अनिद्रित रहने का अभ्यास करायें (उपवास तथा चित्तबन्ध के साथ) तो सुस्वास्थ्य के साथ वह व्यक्ति साधारणतया तीन दिन अवश्य ही अनिद्र अवस्था में रह लेगा। (व्यक्ति-विशेष के लिये बीच-बीच में १५-३०

मिनट पर्यन्त 'निद्रा' की आवश्यकता होगी)। ३।३१ योगदर्शनोक्त कूर्म-नाड़ी (Bronchial tube स्थित सूक्ष्म नाड़ी) पर आधिपत्य करने से स्थिर होकर अनिद्रित अवस्था में दीर्घकाल तक रहा जा सकता है इसका आंशिक अभ्यास ६-७ मास में कोई भी मनस्वी स्वस्थ व्यक्ति कर सकता है।

विश्रामरूपी निद्रा का उचित उपयोग कर कुछ मानस अस्वस्थताओं का दूरीकरण (अंशतः या पूर्णतः) किया जा सकता है। Sleep therapy नाम से आजकल इस प्रक्रिया का प्रचलन हो गया है जो अभी प्रारम्भिक अवस्था में है। निद्राज्ञान का उपयोग योगाभ्यास में भी किया जा सकता है, जैसा कि आगे विवृत होगा।

निद्राविचार—निद्राविचार में यह सबसे पहले ज्ञातव्य है कि यहाँ जीव (चित्तरूप उपाधि से युक्त चिद्रूप आत्मा) की ज्ञानावस्था पर विचार किया जा रहा है। यह विचार भी प्रधानतः प्राणक्रिया के परिज्ञान पर अवलम्बित है। स्थूल या सूक्ष्म शरीर की विधारिका जीवनीशक्ति रूप प्राण का आश्रय कर ज्ञान-चेष्टा-संस्कारधर्मक चित्त में जो चिन्तन-प्रवाह चलता रहता है उस प्रवाह के स्तरों पर विचार करना ही ज्ञानावस्था का विश्लेषण है। परिणामी चित्त (तथा विषयसंपर्कजनित उसका खण्ड खण्ड परिणाम रूप वृत्ति, जो ज्ञानावस्थारूप है) का प्रवाह अपने उपादानभूत गुणत्रय की दृष्टि से मुख्यतया तीन भागों में विभक्त हो सकता है—सात्त्विक, राजस और तामस; अतः ज्ञानावस्था भी त्रिविध होगी। ये तीन अवस्थाएँ यथाक्रम सात्त्विक जागरणावस्था (जाग्रत्), राजस स्वप्नावस्था और तामस निद्रा-वस्था (सुषुप्तावस्था) कहलाती हैं।

प्रसंगतः यह जानना चाहिये कि इन तीन मुख्य अवस्थाओं के बीच और भी दो अवस्थाएँ हो सकती हैं, जो गुणत्रयानुसारी दृष्टि के अनुसार (१) सात्त्विक-राजस और (२) राजस-तामस होंगी। माण्डूक्य उपनिषद् में अन्तःप्रज्ञ (स्वप्न), बहिष्प्रज्ञ (जाग्रत्) और प्रज्ञानघन (निद्रा) रूप तीन अवस्थाओं के अतिरिक्त 'उभयतःप्रज्ञ' रूपी अवस्था भी कही गई

है, भाष्यानुसार जिसका अर्थ है 'जाग्रत्-स्वप्न की अन्तरालावस्था'। यदि 'जाग्रत्-स्वप्न की अन्तरालावस्था हो सकती है तो स्वप्न-निद्रा की अन्तरालावस्था भी अवश्य होगी। कहीं-कहीं इस अवस्था को 'तन्द्रा' शब्द से कहा भी गया है। इस ग्रन्थ में विशद रूप से प्रकटित जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति रूप तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया जायेगा; मध्यभूत इन दोनों अवस्थाओं पर पृथक् रूप से कुछ कहना यहाँ आवश्यक नहीं है।

इन तीन ज्ञानावस्थाओं का भेदक हेतु क्या है ? अर्थात् वह गुण क्या है जिसके आधार पर चिन्तनावस्था रूप एक जाति में पतित इन तीन अवस्थाओं के भेद किये जा रहे हैं ? 'चिन्ता की प्रकृति' ही यह भेदक गुण है। 'प्रकृति' के अर्थ में 'ज्ञेय विषय के त्रिविध भेद' भी है; क्योंकि ज्ञान ज्ञेय को छोड़कर नहीं रह सकता। इस भेद के साथ-साथ शरीर (विधारक प्राण का मुख्य धार्य विषय) और इन्द्रियों की स्थिति में भी स्फुट विलक्षणता होती है तथा चित्त की विषय-संचार रूप गति में भी परिवर्तन हो जाता है—यह दो अनुभवगम्य तथ्य हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जाग्रत् , स्वप्न और सुषुप्ति का विश्लेषण विभिन्न दृष्टिकोणों से किया जा सकता है। इनके लक्षण भी विभिन्न प्रकार से दिये जा सकते हैं। पूर्वाचार्यों ने भी विभिन्न दृष्टिकोणों से निद्रा का परिचय दिया है। किसी ने ज्ञान की प्रकृति का उल्लेख कर, किसी ने ज्ञान के आलम्बन का उल्लेख कर और किसी ने चित्तादि के अवस्थाविशेष को लक्ष्य कर निद्रा का परिचय दिया है। लौकिक दृष्टि द्वारा कृत कुछ विश्लेषण बहुत ही स्थूल हैं। चित्तावस्थाविशेष होने के कारण **निद्रा के विश्लेषण में चित्तस्थैर्य जात अनुभूति भी चाहिये** - जैसा कि यहाँ विस्तार के साथ दिखाया गया है। वर्तमान मनोवैज्ञानिकों द्वारा कृत निद्राविश्लेषण इस अनुभव के अभाव के कारण तलस्पर्शी नहीं होता।

निद्रा कोई अज्ञात अवस्था नहीं है—अध्यात्मविदों की यह युक्तिदृढ़ मान्यता है कि **सुषुप्ति कोई ज्ञात अवस्था नहीं है—ऐसा कहा नहीं**

जा सकता; क्योंकि यदि सुषुप्ति-अवस्था का कुछ भी परिचय न रहे तो 'सुषुप्ति में ज्ञान नहीं रहता' यह कैसे कोई कहता है ? 'ज्ञानाभाव' के रूप में सुषुप्ति का परिचय वही दे सकता है, जो सुषुप्ति को जानता है। यदि यह 'जानना' सुषुप्ति-काल में हुआ है तो सुषुप्ति ज्ञात-अवस्था हुई, अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता है कि सुषुप्तिकाल में कोई ज्ञान नहीं रहता। यदि कोई कहे कि ज्ञानाभाव-रूप सुषुप्ति अनुमानगम्य ही है, तो यह कहना अनुमान-पद्धति की दृष्टि से संगत नहीं हो सकता क्योंकि अनुमान करने के लिये अनुमेय पदार्थ और उससे सम्बद्ध हेतु—इन दोनों का ज्ञान पहले चाहिये। अतः 'अमुक अवस्था ज्ञानशून्य है' या 'ज्ञानशून्य अवस्था ईदृश थी'—इस प्रकार अनुमान करने से पहले 'ज्ञाता की ज्ञानशून्यावस्था' का ज्ञान करना आवश्यक होगा। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि **सुषुप्ति रूप अवस्था भी ज्ञात ही रहती है।** चित्तावस्था होने पर भी जिस प्रकार जागरण और स्वप्न में अत्यधिक विलक्षणता है, उसी प्रकार सुषुप्ति भी इन दोनों अवस्थाओं से विलक्षण है। जाग्रत् और स्वप्न में मन जागरित रहता है, अतः दोनों में जितना सादृश्य हो सकता है, उतना सादृश्य सुषुप्ति में नहीं होता, क्योंकि इस अवस्था में मन रुद्धप्राय हो जाता है। यही कारण है कि कुछ पूर्वाचार्यों ने जाग्रत् और स्वप्न अवस्था को एक श्रेणी में तथा निद्रा को अन्य श्रेणी में रखकर विचार किया है।

निद्रा का परिचय—हमने कहा है कि सभी व्यक्ति स्वभावतः **निद्रा को अनुभूति-विशेष के रूप में जानते हैं,** अतः चिन्ता या ज्ञान के विश्लेषण के साथ निद्रा का समझना ही सरल मार्ग है। ज्ञान या चिन्ता का सम्बन्ध चित्त, अन्तःकरण या 'जीवात्मा' (ज्ञाताऽहम्) से अच्छेद्य है, इस दृष्टि से व्यावहारिक आत्मभाव के विश्लेषण में निद्रा का विवरण देना सर्वोत्कृष्ट पन्था है।

इसी दृष्टि से माण्डूक्य उपनिषद् में निद्रा को समझाया गया है। यहाँ जीवात्मा के ज्ञातृत्व भाव को चार भागों में बाँटा गया है—(१) बाह्य-

विषयक ज्ञान, (२) आन्तरविषयक ज्ञान, (३) बाह्याभ्यन्तरविषय-रोध का ज्ञान तथा (४) सर्वविध चिन्ता का अतीत अपरिणामी ज्ञातृत्व। ये चार भाग (पाद) यथाक्रम जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति (निद्रा) और तुरीय अवस्था कहे गए हैं। (इन अवस्थाओं का परिचय यथास्थान दिया गया है)।

जाग्रदादि अवस्थाओं का परिचय यहाँ सहायक इन्द्रियादि के साथ दिया गया है। तदनुसार सुषुप्ति (निद्रा) का परिचय इस प्रकार है—जिस स्थान या काल में सुप्त होकर कोई प्राणी न कुछ चाहता है, न स्वप्न (वासनारूप ज्ञान जब उदित रहता है वह स्वप्नावस्था है) देखता है, यही सुषुप्त (=सुषुप्ति) है। यह सुषुप्तस्थान (सुषुप्ति जिसका स्थान=अभिमान का विषयभूत है, वह) 'एकीभूत' है (अर्थात् नैश अन्धकार में जिस प्रकार पदार्थों का पृथक् कर स्पष्ट ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार इस अवस्था में भी निर्विशेष ज्ञान होता है (इसका प्रकृत अर्थ बाद में द्रष्टव्य)। यह 'प्रज्ञानघन' है अर्थात् यहाँ विषय ज्ञान की विविधता नष्ट होकर एकाकार ज्ञान ही रह जाता है। मूल वाक्य (५) में 'एव (=ही) है जिससे ध्वनित होता है कि ज्ञान का स्फुटरूप लक्षित न होने पर भी यह सुषुप्ति-ज्ञान की एक अवस्था ही है।

यह अवस्था आनन्दमय (=आनन्दप्राय=आनन्दबहुल) है। आयासहीन होने पर जिस प्रकार कोई सुखी होता है, उसी प्रकार इस अवस्था में जाग्रत् और स्वप्न का चाञ्चल्य न रहने के कारण (चाञ्चल्य और पीड़ा अविनाभावी है) आयासहीनता रूप जो स्थिति होती है वही 'आनन्द' कहलाती है (यह वस्तुतः सात्त्विक आनन्द नहीं है, यह बाद में उपपन्न होगा)।

यह अवस्था 'चेतोमुख' है, अर्थात् जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में जिस प्रकार १९ मुखों का व्यापार चलता रहता है (१० इन्द्रियाँ, ५ प्राण, ४ मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) इस सुषुप्ति अवस्था में उन सबों का व्यापार स्तब्ध हो जाता है। केवल चित्त का व्यापार नष्ट नहीं होता। प्राण के अलक्ष्य व्यापार मात्र को चलाने के लिये चित्त का जितना अल्प व्यापार

चाहिये, उतना ही व्यापार इस अवस्था में रहता है। इस 'चेतोमुख' का 'आत्मज्ञान में तल्लीनता' रूप जो अर्थ कुछ व्याख्याकार करते हैं, वह असमीचीन है, यह बाद में दिखाया जायेगा।

यह अवस्था 'प्राज्ञ' है। प्रज्ञप्तिमात्र (निर्विशेष-विषयबोध) ही इस अवस्था में रहता है, अतः यह प्राज्ञ है। 'प्रज्ञ एव प्राज्ञः' (उत्कृष्टज्ञाता)—इस अर्थ में यहाँ प्राज्ञ शब्द की व्युत्पत्ति करना संगत ही होता है, क्योंकि ईदृश स्थिरतायुक्त अवस्था में ही त्रैकालिक ज्ञान आदि का उद्भव सम्भव है (यदि वह स्थिरता सात्त्विक प्रकाश से युक्त हो)—यह योगशास्त्र दिखाता है। निद्रायुक्त प्राणी की स्तुति तथा प्रजापति ईश्वर के साथ उसकी तुलना आदि जो शास्त्रों में मिलते हैं, उनका भी तात्पर्य निद्राकालीन स्थैर्य (यद्यपि वह तामस है, योगविरोधी है, तथापि) की प्रशंसा में है (यथास्थान इसका विचार द्रष्टव्य)।

वैषयिक निर्विशेष ज्ञान को 'अज्ञता' रूप मानकर प्र + अज्ञ = प्राज्ञ भी कहा जा सकता है (द्र० उद्योग १३३।१५ पर देवबोधटीका)।

यह सुषुप्ति-अवस्था आत्मोपलब्धि का तृतीय पाद (= उपलब्धिसाधन-भूत; पद्यतेऽनेनेति) है। 'पाद' कहने का तात्पर्य है कि तुरीय आत्मा के अधिगम में बाह्याभ्यन्तर ज्ञानरोध भी एक सहायक है; पर आत्मोपलब्धि से पहले इस निद्रा का भी रोध करना आवश्यक होता है, इसलिये यह सुषुप्ति-अवस्था साधनभूत ही है। तुरीयावस्था को जो 'पाद' कहा जाता है, वह 'अन्तिम अधिगम्य स्थान' के अर्थ में (यः पद्यते)। निद्राज्ञान का उपयोग जिस रूप से आत्मोपलब्धि में किया जा सकता है, वह यथास्थान विचारित होगा।

माण्डूक्य उप० में यह भी कह दिया गया है कि इस सुप्त स्थान को ओंकार की तृतीय मात्रा (= मकार) के रूप में सोचना चाहिये (११)। मकार के साथ सुषुप्ति का सादृश्य है—मितेरपीतेर्वा। पूर्वोक्त प्राज्ञ अवस्था के द्वारा विश्व और तैजस भाव परिमित होते हैं (मिति), तथा विश्व-तैजस-भाव इस अवस्था में एकीभूत हो जाते हैं (अपीति)। अ—उ-म् उच्चारण में

भी इस मिति और अमीति का अवस्थान है (द्र० भाष्य)। सुषुप्ति की इस 'मिति' और 'अमीति' का स्वरूप सुषुप्तिस्वरूप के ज्ञान से स्वतः स्पष्ट हो जाता है। अनुनासिक मकार ध्वनि (म् म् म् ...) के उच्चारणविशेष से निद्रावस्था को सहसा प्रकटित करने की प्रणाली स्वरोदय आदि योगप्रस्थानों में मिलती है (जो परीक्षणसिद्ध तथ्य है)—यह भी इस प्रसंग में स्मरणीय है।

निद्रा आदि शब्दों का प्रयोगवैचित्र्य — निद्रा, सुषुप्ति आदि शब्दों का प्रयोग पूर्वाचार्यों द्वारा स्वल्प पृथक् अर्थों में भी किया गया है, जिसका परिज्ञान पाठकों को पहले ही कर लेना चाहिये। हम निद्रा का प्रयोग 'एक प्रकार की चित्तवृत्ति' अर्थ में मुख्यतया करते हैं। इस वृत्ति के स्थितिकाल में शरीरेन्द्रिय में जो स्थिति (जडताप्रधान) उदित होती है, उस भाव के लिये भी (केवल वृत्तिरूप ज्ञानांश के लिये नहीं) 'निद्रा' या मुख्यतया 'सुषुप्ति' शब्द का व्यवहार दार्शनिक संप्रदाय में किया जाता है। निद्राकाल में बाह्याभ्यन्तर ज्ञान का 'अभाव' हो जाता है। इस 'ज्ञानाभाव' को भी कोई कोई निद्राशब्द से कहते हैं। तन्द्रा-तन्द्री शब्द निद्रा अर्थ में बाहुल्येन प्रयुक्त होते हैं। स्वप्नावस्था के लिये या स्वप्न-निद्रा-मिश्रित अवस्था के लिये भी तन्द्री या तन्द्रा शब्द प्रयुक्त होता है। (तुल० उद्योग ३३।६६: तन्द्री निशातिघातादिना ज्ञानभ्रंशः—देव०)।

स्वप्न (dream) का अर्थ बहुत्र निद्रा भी होता है। (स्वप्न=निद्रा; द्र० गीता १८।३५ शंकर)। निद्रा शब्द (विशेषकर क्रियापद का रूप—निद्राति) भी स्वप्नवाचक देखा गया है। 'स्वपिति' रूप क्रिया पद 'स्वप्न-दर्शन' तथा 'स्वप्नहीन सुषुप्ति' को कहता है। सुप्ति स्वप्न-निद्रा-अवस्था-द्वय का वाचक क्वचित् होता है। अतः निद्रा के लिये विशेषकर 'सुषुप्ति' शब्द प्रयुक्त होता है। सुषुप्ति शब्द का स्वप्नावस्था में प्रयोग दृष्ट नहीं है; मरण के लिये महासुषुप्ति शब्द प्रयुक्त होता है।

अवस्था शब्द स्वप्न, निद्रा आदि शब्दों के साथ जोड़ा जाता है यह

दिखाने के लिये कि निद्रा और स्वप्न क्षणिक नहीं हैं, बल्कि कुछ काल पर्यन्त इनकी स्थिति होती है। किंच सुषुप्ति-स्वप्न के समय शरीरादि में भी लक्षणीय परिवर्तन होता है; इन दोनों का बाह्य ज्ञायमान रूप भी है, इस दृष्टि से भी 'अवस्था' शब्द प्रयुक्त होता है[१]।

निद्रा का चित्तवृत्तित्व—अध्यात्म-विदों ने निद्रा को बुद्धिवृत्ति[२] या चित्तवृत्ति के रूप में माना है। प्रख्या (ज्ञान, प्रत्यय), प्रवृत्ति (चेष्टा) और संस्कार रूप धर्म से विशिष्ट अन्तःकरण चित्त है। ज्ञान और चेष्टा परिदृष्ट धर्म हैं; संस्कार अपरिदृष्ट (subconscious) धर्म है। (द्र० व्यासभाष्य ३।१५)।

पातञ्जलयोगशास्त्र ने चित्तनिरोध के उद्देश्य से चित्त का विश्लेषण किया है, अतः उसने चित्त के सात्त्विकांश (प्रख्या) पर ही अपनी दृष्टि को केन्द्रित किया है। यही कारण है कि इस शास्त्र में 'चित्तसत्त्व' (चित्तरूप से परिणत सत्त्वगुण) शब्द बहुधा प्रयुक्त होता है और जीव की प्रवणता के विचार में सत्त्वगुणक अध्यवसाय पर ही अधिक बल दिया जाता है। ज्ञान के रोध से चेष्टा का भी रोध होता है, इसलिये चित्त के प्रवृत्तिभाग को लेकर स्वतन्त्र विभाग इस शास्त्र में नहीं किया गया। चूँकि ज्ञान (और चेष्टा) का सूक्ष्म रूप ही संस्कार है, अतः ज्ञान = बोध = चित्तवृत्ति का स्वरूप और उसके रोध के उपाय ही प्रधानतया इस शास्त्र में कहे गये हैं।

---

१. सुप्ति और सुप्त समानार्थक हैं (भाव में ति या त प्रत्यय कर)। सुप्त का 'सोया हुआ' अर्थ भी होता है और इस अर्थ में प्रचुर प्रयोग भी है। 'स्वपिति' क्रिया पद का प्रयोग 'शयन करना' अर्थ में भी होता है तथा 'सोकर स्वप्न-निद्रा अवस्था पर्यन्त स्थिति' रूप अवस्था में भी होता है। (स्वपिति = शेते द्र० काशकृत्स्न धातु पाठ २। ३२; यहाँ सुप्ति, स्वाप आदि शयनवाची कहे गये हैं; यह कथन सामान्यार्थक है)।

२. जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः (भागवत ११।१३।२७)। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ताख्यं त्रयं रूपं हि चेतसः (योगवा० ६।१२४।३६)

बोध का जो विभाग पतञ्जलि ने १।६ सूत्र में किया है, वह इस प्रकार है—यथाभूत बोध (प्रमाण), अयथाभूत बोध (विपर्यय), भाषाश्रित (शब्द-प्रयोग-मात्र-निर्भर) अवस्तुविषयक बोध (विकल्प), रुद्धभाव का अस्फुट बोध (निद्रा) और ज्ञातभाव का पुनर्बोध (स्मृति)।

चित्तसत्त्व का जो परिणाम बाह्य या आभ्यन्तर विषय के सम्पर्क से निरन्तर होता रहता है, वह **वृत्ति** है। वृत्ति के विषय में हम कह सकते हैं कि एक एक क्षण व्यापी जो बोध (बाह्य विषय या आन्तर विषय को लेकर) उदित होता है, वही वृत्ति है। यह वृत्ति प्रवाहरूप से चलती रहती है; चित्त परिणाम-स्वभाव गुणत्रय से उत्पन्न होने के कारण क्षिप्रपरिणामी है। विषय भी अमेय है, आलम्बनभूत विषयों की समाप्ति कभी भी नहीं होगी, अतः व्युत्थान-संस्कार से युक्त चित्त में वृत्तिप्रवाह किसी न किसी विषय को लेकर चिरकाल तक चलता ही रहेगा (अध्यात्मशास्त्र में इस वृत्ति-प्रवाह को छिन्न करने का उपाय उपदिष्ट हुआ है)। अवस्थाविशेष में वृत्ति न रहने पर भी वृत्ति का सूक्ष्मरूप (= संस्कार) अवश्य रहेगा।

चित्त में बोधांश की प्रबलता है, यही कारण है कि राजस प्रवृत्ति और तामस संस्कार भी ज्ञात होते हैं (चित्तगत संस्कारों का घटादि की तरह प्रत्यक्ष करने का उपाय पूर्वाचार्यों ने कहा है)। वृत्ति ज्ञानप्रधान है, अतः वृत्ति की विद्यमानता प्रमाणित करती है कि चित्त अभी भी रुद्ध नहीं हुआ है। अतः जब हम कहते हैं कि निद्रा एक वृत्ति है, बोधविशेष है तब हम यह भी कहते हैं कि **चित्त का वस्तुतः रोध निद्रा में नहीं होता**, भले ही उस अवस्था में चित्त जडता से अभिभूत रहे।

निद्रालक्षणपरक योगसूत्र पर यहाँ कुछ कहना है। सूत्र है—"अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिः निद्रा" (१।१०)। सूत्र कुछ क्लिष्ट भी है गभीरार्थक भी, अतः इसकी व्याख्या अपेक्षित है। इसकी प्रचलित व्याख्या यह है कि पूर्वोक्त प्रमाण, विपर्यय और विकल्प रूप तीन वृत्तियों के अभाव (= अनुत्पत्ति) का जो प्रत्यय (= कारण) है, वह (अर्थात् जड़ता रूपी

तमः) आलम्बन (= विषय) जिस वृत्ति का है, वह निद्रा है। अर्थात् निद्रा तमःप्रचुर चित्तविषयिणी वृत्ति है (भावागणेश)। यह तमः बुद्धि का आवरक है— यह भी व्याख्याकारगण कहते हैं।

कोई कोई जाग्रत् और स्वप्न रूप अवस्थाद्वय के अभाव के हेतुभूत जडताविशेष को ही निद्रावृत्ति का आलम्बन समझते हैं। चुंकि प्रमाण, विपर्यय और विकल्प जाग्रत् और स्वप्न में ही हो सकते है, इसलिए दोनों व्याख्याओं में तात्त्विक अन्तर नहीं है। स्पन्दकारिका १।१० व्याख्या में रामकण्ठ ने इस सूत्र की जो व्याख्या की है वह बहुत ही उपादेय है— "अभावो वृत्तीनां सामान्याभावः तस्याः प्रत्ययः कारणं तमः तदालम्बना तत्प्रचुरा चित्तविषयिणी वृत्तिः .. वेद्यवेदकविभागस्य तत् कालम् अग्रहणे सति अभावरूपा इव सती...."। निद्राकालीन ज्ञान का स्वरूप इससे स्पष्ट हो जाता है। ज्ञातृ-ज्ञेयरूप विभाग इस ज्ञान में नहीं रहता—यह ज्ञातव्य है।

योगसूत्रगत यह 'अभाव' शब्द कुछ भ्रामक हो गया है। इससे यह भ्रान्त मत प्रचलित हो गया है कि निद्राकाल में ज्ञान या बुद्धि का पूर्ण अभाव वस्तुतः हो जाता है, चित्त अपने कारण में वस्तुतः लीन हो जाता है (क्योंकि तभी सम्यक् ज्ञानाभाव होना संभव है)। योगशास्त्र का सुदृढ़ कथन यह है कि जाग्रत् काल में निद्रा का जो स्मरण होता है वह किसी न किसी अनुभव की अपेक्षा करता है; यह अनुभव चित्त का व्यक्त परिणामविशेष है, यही निद्रा है। आवरक तम के उदय होने पर ज्ञेय वस्तुओं की संवेद्यता का अभाव प्रतीत होता है, इसलिये भी अभाव पद का व्यवहार किया गया है। निद्रा को 'असंवेद्यमानविषया' कहा ही जाता है। ऐसा होने पर भी यह अवस्था सम्यक्-ज्ञान-शून्य नहीं है[1]।

---

१. एक प्रश्न उठ सकता है कि अध्यात्मशास्त्र के अनुसार भाव पदार्थ का अभाव नहीं होता, अतः किसी अवस्था में जाग्रत् और स्वप्न का वस्तुतः अभाव होगा, यह कैसे कहा जा सकता है? उत्तर—कार्य करने की शक्ति यदि न हो तो वहाँ 'अभाव' शब्द का प्रयोग पूर्वाचार्यों ने किया है। शान्ति०

वृत्ति के स्वाभाविक कार्य—निद्रा जब वृत्ति (चित्त की अवस्था-विशेष या परिणाम-विशेष) है, तब प्रत्येक प्राकृत विकार का जो स्वकीय स्वभाव है वह निद्रा में भी स्वीकार्य होगा। प्रत्येक त्रैगुणिक विकार के स्वकीय स्वभाव, कर्म, गुण ये हैं —

१. वह किसी हेतु से ही उत्पन्न होगा तथा एक निश्चित काल तक रहेगा।

२. अपने बल को खोने के बाद वह स्वकारण में लीन होगा।

३. सत्त्व आदि गुणों में से किसी एक गुण की प्रधानता होने पर भी अन्य दो गुण प्रबल रूप में उसमें रहेंगे।

४. प्राकृत व्यक्त पदार्थ अनित्य, क्रियायुक्त, किसी में आश्रित, स्वकारणानुरूप स्वभाव से युक्त, अन्य सूक्ष्मतर या बलवत्तर पदार्थ का अधीन, अपने कारण के साथ सम्बन्धयुक्त तथा विभिन्न ज्ञाताओं का विज्ञेय विषय होता है।

२७५।९-१० में कहा गया है कि आठ भूत शाश्वत (प्रवाह रूप से नित्य) हैं, वे अभाव को प्राप्त होते हैं और पुनः प्रादुर्भूत होते हैं। इस प्रकार लीन अवस्था को लक्ष्य कर 'अभाव' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'लीन होकर रहना' वस्तुतः अभाव नहीं है। हम समझते हैं कि सुषुप्ति के रुद्ध-अवस्थारूप स्वरूप को लक्ष्य कर 'चित्तलय' शब्द कभी प्रयुक्त होता था। (तुल० गौडपाद ३।४२); बाद में अविशेषदर्शी व्यक्तियों को यह भ्रम हो गया कि सुषुप्ति में वस्तुतः चित्तलय होता है। लय = लयसदृश अवस्था है। उद्योग २२।५ व्याख्या में देवबोध ने जो 'निद्रां तमसि गुणे चित्तलयम्' कहा है, इसका यही तात्पर्य है। स्वप्नावस्था को जब 'अदर्शनवृत्ति' कहा जाता है तब उसका 'स्थूल दर्शन का न होना' ही अर्थ है, न कि 'दर्शन का अभाव'। अभाव, अदर्शन आदि शब्दों के ईदृश अर्थभेद को ध्यान में रखकर ही प्राचीन ग्रन्थों को पढ़ना चाहिये।

पाठकों को ध्यान से अध्यात्मदृष्टि की इस व्यापकता को देखना चाहिए और अपने पर्यवेक्षण से इस बात की सत्यता की परीक्षा करनी चाहिये।

पूर्वोक्त तथ्य निद्रा के 'प्राकृत विकार' होने के कारण कहे गये हैं। निद्रा के 'वृत्तिरूप' होने के कारण भी निम्नोक्त तथ्य निद्रा में अवश्य रहेंगे--

१. वृत्ति होने के कारण उसका संस्कार होगा।

२. विद्या (आत्मज्ञान) अथवा अविद्या की बहुलता उसमें होगी।

३. अभ्यासादि द्वारा उसका रोध किया जा सकेगा।

४. सुख-दुःख-मोह से वह युक्त होगी।

५. प्रत्येक वृत्ति जिस तरह ज्ञेय रूप से ज्ञात होती है, निद्रा भी तथैव एक विज्ञेय पदार्थ होगा।

६. प्रत्येक वृत्ति का जिस प्रकार कोई न कोई आलम्बन (विषय) होता है निद्रा का भी कोई न कोई विषय (= आलम्बन) अवश्य होगा।

निद्रा तामस अवस्थाविशेष है—अध्यात्मशास्त्र में सभी अनात्म-पदार्थों को गुणत्रय के परिणाम के रूप में माना गया है; तथा प्रत्येक परिणाम में किसी न किसी गुण का आधिक्य है—यह भी कहा गया है। इस विद्या में निद्रारूप वृत्ति तमोगुणप्रधान मानी गयी है। तमोगुणप्रधान होने के कारण निद्रा में गुरुता और आवरण भाव का आधिक्य है, यह भी सिद्ध होता है। तमः की अधिकता के कारण ही यह जाग्रत् और स्वप्न की तरह स्पष्ट रूप से लक्षित नहीं होती।

यह 'आधिक्य' किसकी तुलना में है—यह प्रश्न हो सकता है। उत्तर में वक्तव्य है कि चित्त की तीन अवस्थाएँ हैं, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति (= स्वप्नहीन निद्रा)। इनमें **जाग्रत् अवस्था** सत्त्वप्रधान है—प्रकाश-भाव (विषयज्ञान) और लघुता का भाव इस अवस्था में सभी को मुख्य रूप से अनुभूत होते हैं। **स्वप्नावस्था** रजःप्रधान है। इस अवस्था में शरीरचालक मन का चाञ्चल्य शारीरिक चेष्टा से अधिक मात्रा में होता है। मस्तिष्कगत चिन्तास्थान की अत्यधिक सक्रियता स्वप्न के राजस रूप की

ज्ञापक है। विशेष प्रकार की स्वप्नावस्थाओं के पर्यवेक्षण से स्वप्न की राजसिकता (चलस्वभाव) ज्ञात होती है। इस चाञ्चल्याधिक्य के साथ साथ प्रत्यक्ष रूप से विषयज्ञान की अविशदता भी रहती है, अतः स्वप्न राजस है।

जाग्रत् और स्वप्न की तुलना में **निद्रा (= सुषुप्ति) तामस है**। यह कोई भी अनुभव कर सकता है कि लघुता, प्रकाशभाव, चाञ्चल्य और प्रवर्तक भाव का जो अनुभव जाग्रत् और स्वप्नकाल में होता है, वह निद्राकाल में नहीं होता।

जाग्रदादि का आवर्तन—इन तीन अवस्थाओं के कार्यकारण के विषय में निम्नोक्त तथ्य प्रसंगतः ज्ञातव्य है। **जाग्रत्काल** में प्रतिक्षण चित्त में बाह्येन्द्रिय से बाधरूप वृत्ति उत्पन्न होती है। इन्द्रिय (शरीर के अंशविशेष में जिसका अधिष्ठान है और इस शरीरसम्बन्ध के कारण जिसकी शक्ति चित्त-शक्ति की तुलना में बहुत कुछ ससीम भी है) संख्या में अनेक है, चित्त एक है; इसका फल यह होता है कि इन्द्रियचालक चित्त सदैव सक्रिय ही रहता है (एकाधिक इन्द्रिय के उपरत हो जाने पर भी)। त्रिगुण के स्वाभाविक नियम के कारण चित्त का विषय-ग्रहण-रूप व्यापार अवश्य ही कुछ काल बाद अभिभूत होता है (अर्थात् अभिभूत तमोगुण जब अपने बल को पुनः प्राप्त करेगा तब) और ऐसा होने पर इन्द्रियाभिमुख चित्त की अवधानवृत्ति (यह वृत्ति ही विषयग्रहण का मूल है) अवश्य अभिभूत होती है। इस समय मानस-चिन्ता-रूप व्यापार रह जाता है—यही **स्वप्नावस्था** है। वासनारूप में अवस्थित विषयों का ज्ञान स्वप्नकाल में होता है। वासना के मूलभूत अनुभव के बलतारतम्य के अनुसार स्वप्नदर्शन में भिन्नता होती है—इत्यादि विषय भी पूर्वाचार्यों ने उदाहरण देकर समझाया है। इसके बाद तमोगुण की प्रबलता होने पर पूर्वोक्त चिन्तनक्रिया भी रुद्ध हो जाती है—यही **निद्रावस्था** है। जाग्रत् अवस्था में सब इन्द्रियों के अधिष्ठान सचेष्ट रहते हैं। स्वप्नावस्था में ज्ञानेन्द्रियाँ जड़ीभूत हो जाती हैं और कुछ अंश तक कर्मेन्द्रियाँ भी; परन्तु अवधानवृत्ति सक्रिय रहती है तथा चिन्ताधिष्ठान

भी सक्रिय रहता है। सुषुप्तिकाल में इन सबों में भी पूर्ण जड़ता आ जाती है। इस जड़ता का अवलम्बन कर जो वृत्ति चलती रहती है, वही निद्रा है।

जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति के भोगकाल का तारतम्य—शरीर और श्रम की प्रकृति और परिमाण के अनुसार जाग्रत् आदि तीन अवस्थाओं का भोगकाल नियमित होता है। इस प्रसंग में निम्नोक्त तथ्य की ओर विचारकों की दृष्टि आकृष्ट की जा रही है—

मनुष्यशरीर में जाग्रत् और निद्रा का स्थितिकाल ज्ञायमान स्वप्नकाल की तुलना में अधिक प्रतीत होता है। मनुष्य सामान्यतया जितने समय पर्यन्त जागरित रहता है या निद्रा में सोता रहता है, उस काल की तुलना में स्वप्न-दर्शन काल को अल्प समझा जाता है। पशु आदि में भी ऐसी ही स्थिति है, ऐसा अनुमित होता है। प्रश्न यह है कि तीनों अवस्थाओं का भोगकाल समान क्यों नहीं होता तथा प्रायेण स्वप्न का काल ही अल्प क्यों होता है (या अल्प अनुभूत होता है)?

परिणामशील गुणत्रय के स्वभाव को देखने से इसकी व्याख्या सरल हो जाती है। सत्त्व और तमः परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हैं और दोनों के स्थिर विशद स्वरूप भी हैं। रजः चलस्वभावविशिष्ट है। इसका फल यह होता है कि जो जो अवस्था सत्त्वप्रधान या तमःप्रधान होती है, उसका स्थिति-काल उस श्रेणी की रजःप्रधान अवस्था से स्फुटतर या अधिक-कालव्यापी होता है। स्वप्न रजःप्रधान है, अतः उसका काल निद्रा और जाग्रत् काल से अल्प होता है। प्रबलतर हेतु से ही इस नियम का अन्यथाभाव संभव है।

स्थितिप्रधान और प्रकाशप्रधान पदार्थ का स्वरूप भी क्रियाप्रधान पदार्थ से अवश्य ही स्फुटतर होता है। राजस कर्मेन्द्रियाँ सात्त्विक ज्ञानेन्द्रिय और तामस पञ्चप्राणों के स्वरूप की स्पष्टता की तुलना में अविशद हैं। ज्ञाने-न्द्रिय की तुलना में तो कर्मेन्द्रिय का स्वरूप अत्यधिक अविशद है।

रजोगुण के चलस्वभाव के कारण (अर्थात् अपना स्थायी स्फुट रूप न रहने के कारण) ही अध्यात्मशास्त्र में कितने ही ऐसे वर्गीकरण हैं, जिनमें

राजस भाग का उल्लेख ही नहीं किया गया। अध्यवसायधर्मा बुद्धि के चार सात्त्विक (धर्म आदि) और चार तामस (अधर्म आदि) रूप कहे गए हैं, पर उसका राजस रूप नहीं कहा गया। राजस भाग अवश्य होता है पर या तो उसका अन्तर्भाव अन्य दो भागों में कर लिया जाता या अत्यन्त अस्थायी होने के कारण उसका पृथक् वर्गीकरण करना अनावश्यक समझा जाता है।

सत्त्व-रजः-तमः परस्पर पृथक् और परस्पराश्रित हैं, पर सत्य यह है कि सत्त्व के साथ तमः का सम्बन्ध रजोद्वारक है। सत्त्व-रजः और तमः-रजः का जैसा निकटतम संबन्ध है, सत्त्व-तमः का ईदृश निकटतम संबन्ध नहीं है। इसका फल यह होता है कि सात्त्विक अवस्था के बाद राजस अवस्था आये विना तामस अवस्था नहीं आती; तथैव तामस अवस्था के बाद राजस अवस्था आये विना सात्त्विक अवस्था नहीं आती। इससे यह भी सिद्ध होता है कि निद्रा के बाद स्वप्नावस्था आयेगी ही (चाहे वह अत्यल्पकालव्यापी ही क्यों न हो)। यह सार्वभौम नियम है। (तामसिक व्यक्ति या समाज को सात्त्विक करने के लिये राजस मार्ग से ही जाना होगा)।

सत्त्व-तमः के इस विरुद्ध स्वभाव के कारण ही योगियों ने यह नियम बनाया है कि तामस निद्रा का रोध किसी राजस क्रिया से अंशतः होने पर भी स्थायी रूप से निद्रा का अकृत्रिम रोध सात्त्विक ज्ञानविशेष से ही हो सकता है। हाँ, तमः की प्रबलता के नाश के लिये आरम्भ में क्रियाबहुल तपस्यादि का अभ्यास आवश्यक होता है और तामस भाव की प्रबलता जब तप द्वारा क्षीण होगी तब सात्त्विक ज्ञानमय धारणा से निद्रा का रोध किया जा सकेगा।

प्रसंगतः यह कहना आवश्यक है कि जितने समय पर्यन्त हम स्वप्नावस्था की कल्पना करते हैं, स्वप्नावस्था उससे अधिक कालव्यापी होती है; जागरित होने पर स्वप्न का बहुत बड़ा अंश विस्मृत हो जाता है, अतः हम स्वप्नकाल को अल्प-समय-व्यापी ही समझते है। कभी कभी छह घण्टे की शयनक्रिया में ५½ घण्टा पर्यन्त स्वप्नावस्था हो सकती है।

चित्तरूप धर्मी के जाग्रत् आदि धर्म—जब अध्यात्मवादी कहते हैं कि सुषुप्ति चित्त की एक अवस्था (परिणाम या धर्म) है, तब उसका तात्पर्य यह होता है कि चित्त सदैव जाग्रत्, स्वप्न या सुषुप्ति धर्म से युक्त होकर ही विद्यमान रहता है, यह नहीं कि व्यक्त चित्त कभी इन अवस्थाओं से शून्य रहता है और बाद में किसी हेतु से इन तीन अवस्थाओं में से कोई एक अवस्था उत्पन्न होती है। अध्यात्मशास्त्र में जो धर्मधर्मि-दृष्टि परिणामी पदार्थ के विषय में प्रवर्तित होती है, उसका तात्पर्य यही है कि धर्मी द्रव्य किसी धर्म से युक्त होकर ही विद्यमान रहेगा। तदनुसार हम कह सकते हैं कि चित्त इन तीन अवस्थाओं के द्वारा ही लक्षित हो सकता है।

अध्यात्मशास्त्र का यह भी कहना है कि किसी धर्मी का कोई धर्म जब उदित रहता है तब वह अन्य धर्मों का अभिभव कर ही उदित रहता है और अन्य अनुदित धर्म उदित होने की चेष्टा में रहते हैं, अर्थात् आवरक हेतु के हट जाने मात्र से यथायोग्य धर्म स्वतः उदित हो जाता है और उस धर्म से अन्वित होकर धर्मी विद्यमान होता है। आवरणकारी हेतु (जिससे अनभिव्यक्त होकर कोई धर्म धर्मी में रहता है) को हटाकर अभीष्ट धर्म के आनयन के लिए दो उपाय कहे गये हैं—(१) उदित धर्म के भंग के लिये चेष्टा, तथा (२) अभीष्ट भाव के विरोधी भाव की अभिव्यक्ति को निवृत्त करने की चेष्टा। पिण्ड धर्म में अवस्थित मिट्टी से घट को उत्पन्न करने के लिये भी यही करना पड़ता है (पिण्ड अवस्था को तोड़ना तथा घट-धर्म के विरुद्ध अन्य धर्मों को निवृत्त करना जिससे वे धर्म उठ न सके)।

चित्त रूप धर्मी के जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति धर्म के उदय-नाश के लिये भी यही क्रिया प्रयोज्य है। असुप्तभाव को विचलित करने की चेष्टा के साथ साथ यदि हम आच्छन्न भाव को लाने के लिये शयन-आदि क्रियापूर्वक निरायास होने की चेष्टा करें तो चित्त में सुषुप्ति-धर्म का उदय स्वतः होगा।

चित्त के जाग्रत् आदि ये तीन अवस्थाएँ व्यक्तावस्था के अन्तर्गत हैं चित्त की एक अव्यक्तावस्था है, जिस अवस्था में चित्तगत गुणत्रय (सत्त्व-रजः-

तमः) का वैषम्य नहीं रहता। योगाभ्यास से चित्त में जब यह अव्यक्तता-धर्म उदित होता है, तब चित्त दुःख से मुक्त हो जाता है। उस अवस्था में जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति का कोई भी सम्बन्ध नहीं रह जाता, क्योंकि वे धर्म सदा के लिये अव्यक्त हो जाते हैं। 'निद्रा की अलक्ष्य अवस्था' से यह अवस्था अत्यन्त पृथक् है।

निद्रा का आलम्बन—हमने पहले ही कहा है कि वृत्ति होने के कारण निद्रा का कोई न कोई अवलम्बनीय विषय अवश्य होगा। अब इस विषय का परिचय दिया जा रहा है। यह अवलम्बन जाड्यविशेष (बुद्धिसत्त्व का आच्छादक तमः) है। अवलम्बन के विना वृत्ति का अस्तित्व ही नहीं रहता, जैसा कि प्रत्येक विषय-ज्ञान-रूप वृत्ति के पर्यवेक्षण से सिद्ध होता है। निर्विषय ज्ञान अध्यात्मशास्त्र में निषिद्ध है; यह हो सकता है कि विषय की सूक्ष्मता के कारण स्थूलदर्शी व्यक्ति को विषय का परिचय न हो सके (विषय बाह्य भी होता है, आन्तर भी)।

स्थूल घटादि विषय निद्रावृत्ति के अवलम्बन नहीं हो सकते, यह तो नितरां सत्य है। अवलम्बन का अर्थ है—चित्त जिसके आकार से आकारित होता है, वह। जिससे चित्त उपरञ्जित होगा, वह अवश्य ही ज्ञात होगा, यह अध्यात्म शास्त्र की मान्यता है। अब विचारना चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति को यह अनुभव होता ही है कि निद्रा आने से पहले (निद्रा द्वारा बाह्य-आन्तर ज्ञान के निरोध होने से पहले) **शरीर, इन्द्रियाँ तथा मन एक विशेष प्रकार के जड़भाव (inertia) से आच्छादित हो जाते हैं।** इस जड़भाव के कारण शरीर स्थिर हो जाता है (यह स्थैर्य तामस है, सात्त्विक नहीं है तथा यह योगविरोधी है) और इन्द्रियाँ अपने व्यापारों से उपरत हो जाती हैं। अतः हमें मानना होगा कि यह जडता ही निद्रारूप वृत्ति का अवलम्बनीय विषय है, और निद्राकाल में चित्त इस जडता को ही जानता रहता है; ठीक जैसे जाग्रत्काल में घटादि पदार्थों को चित्त जानता रहता है या स्वप्नावस्था में वैषयिक वासना (ज्ञान और चेष्टा के संस्कार) को जानता रहता है। (यह

चिन्तन-प्रधान अवस्था है; रजः के प्राधान्य के कारण स्वप्नकालीन चिन्ता प्रायेण विपर्यस्त ही होती है)।

निद्राकालीन ज्ञातृत्व—निद्रावस्था में भी चित्त जानता रहता है[1] इस पर बहुतों को संशय होता है। पर निद्रा में जो एक प्रकार का अस्फुट बोध रहता है, इसका अपलाप नहीं किया जा सकता, क्योंकि निद्रावस्था की स्मृति होती है; इस बात को विशेष रूप से समझना चाहिये। निद्रा भी ज्ञानावस्था ही है, इसी को जनाने के लिये पतञ्जलि को निद्रापरक सूत्र में वृत्ति का प्रकरण चलने पर भी 'वृत्ति' शब्द का प्रयोग करना पड़ा था (द्र. १।१०); इससे अनुमित होता है कि ऐसा भी कोई वादी था जो यह मानता था कि निद्रा कोई वृत्ति नहीं है।

अध्यात्मवादी कहते हैं कि निद्रा अस्फुट-ज्ञान-स्वरूप (=प्रत्ययविशेष) है, क्योंकि जाग्रत्काल में निद्रावस्था का स्मरण होता है। 'मैं किसी न किसी अवस्था विशेष में था'—इस प्रकार का एक अवधारण जीव (निद्रा से उत्थित

---

१. 'जानता रहता है' कहने का यह तात्पर्य नहीं कि शब्द-स्पर्शादि को जानता रहता है, बल्कि शब्द स्पर्शादिज्ञान के आच्छादक जडताविशेष को जानता रहता है। हम कह सकते हैं कि यह 'ज्ञान' विशेष-ज्ञान न होकर निर्विशेष ज्ञान है। सर्वसारोपनिषद् का वचन इस प्रसंग में द्रष्टव्य है—चतुर्दशकरणोपरमाद् विशेषविज्ञानाभावाद् यदा शब्दादीन् नोपलभते तद् आत्मनः सुषुप्तम्।'विशेष ज्ञान नहीं रहता' कहने पर 'सामान्य ज्ञान रहता है'—यह सुतरां सिद्ध होता है। प्रज्ञानघन रूप निद्राज्ञान की व्याख्या यह है—अशेषविशेषविज्ञानाभावरूपत्वाद् विशेषविज्ञानानां सर्वेषां घनमेकं साधारणमविभक्तं सुषुप्तम् इति (गिरि, माण्डूक्योप०)। बृहदा० २।१।१९ के 'न कस्यचन वेद' इस निद्राज्ञानबोधक वाक्य की व्याख्या में शंकराचार्य 'विशेषविज्ञानाभाव' ही कहते हैं। विज्ञानम् = वागादीनां स्वस्वविषयगतं प्रतिनियतं प्रकाशनसामर्थ्यम् (बृहदा० २।१।१७ गिरि)। निद्राकाल में 'अहम्' बोध भी लुप्त रहता है, यह प्रसिद्ध है।

होकर) करता ही है। संस्कार के विना जब स्मरण नहीं होता और संस्कार भी जब पूर्व अनुभव के विना नहीं हो सकता तब निद्रा अवश्य ही अनुभूति-विशेष होगी। यदि निद्रा-रूप वृत्ति का अनुभव नहीं होता तो न उसका संस्कार होता और न उसकी स्मृति ही होती (स्मृति = संस्कार का बोध्यता-परिणाम; संस्कार = वृत्ति की अलक्ष्य अवस्था में स्थिति)।

इस प्रसङ्ग में यह स्पष्टतया ज्ञातव्य है कि **निद्राकाल में जो अस्फुट बोध उदित रहता है,** साधारण चञ्चल व्यक्ति उसका साक्षात्कार (पृथक् रूप से स्पष्ट जानना, जैसे घटादि पदार्थों को जाना जाता है) नहीं कर सकता। **निद्रावस्था के साक्षात् ज्ञान के लिये चित्त की स्वच्छता का एक विकसित स्तर आवश्यक है।** चित्त में वृत्ति उठने पर वह तभी स्फुट रूप से ज्ञात होगा यदि चित्तगत ज्ञानशक्ति वृत्ति की सूक्ष्मता के अनुरूप हो। हम जानते हैं कि दूरस्थ अनेक नक्षत्रों की ज्योति हमारे नेत्र में प्रविष्ट होती है, पर हमारा नेत्र उनका दर्शन नहीं कर सकता, क्योंकि शारीरिक जडता के कारण हमारा नेत्र सूक्ष्म वस्तु का ग्राहक (पृथक् रूप से जानने में समर्थ) नहीं होता। **निद्राकालीन सूक्ष्मबोध के अनुभव के लिये चित्त को स्थिर करना पड़ता है** (इसके लिये प्राणायाम उपवासादि शारीरिक संयम भी आवश्यक हैं)।

सुषुप्ति के बाद प्रत्येक व्यक्ति यही कहता है कि मैंने कुछ भी उपलब्धि नहीं की है। इस वाक्य से **ज्ञान या ज्ञातृत्व का अपलाप नहीं किया जाता** वल्कि 'ज्ञेय-विशेष का विशिष्ट ज्ञान नहीं था'—इतना ही सूचित होता है; यदि निद्रा में ज्ञातृभाव का पूर्णतः विलोप हो जाता तो 'मैंने कुछ भी नही जाना' यह कैसे कहा जाता। स्थूल-सूक्ष्म दृश्य-वस्तु-विषयक विशेष ज्ञान का अभाव निद्रा में था, इतना ही सिद्ध होता है; क्योंकि 'मैंने अनुभव नहीं किया' इस प्रकार 'ज्ञातृस्वरूप के अभाव का अनुभव' उस काल में नहीं होता।

निद्राकाल में जीव का ज्ञातृत्व पूर्णतः नष्ट नहीं होता, यह योगवासिष्ठ

४।१९।२०-२४ में स्पष्टतया कहा गया है। यहाँ के 'शान्तात्मा जीवधातुः स्वस्थः तिष्ठति, 'जीवोऽन्तरेव स्फुरति तैलसंविद् यथा तिले' वाक्य द्रष्टव्य हैं। ज्ञानप्रवाह जडता से रुद्ध होकर अभिभूत स्थिति में रहता है (अभिभूत स्प्रिंग की तरह सचेष्ट होकर) यह भी कथित उदाहरण से सिद्ध होता है। जो दार्शनिक आत्मा को 'सुषुप्ति के साक्षी के रूप में सिद्ध' कहते हैं—वे ठीक ही कहते हैं।

निद्राकालीन अनुभव की प्रकृति—स्वप्न-हीन-निद्रा-कालीन बोध के स्वरूप को दिखाने के लिए 'सुख' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है (तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति-कैवल्योप०)। बृहदारण्यक (४।३।२१) में 'स्त्री-शरीर से संयुक्त व्यक्ति में तल्लीनता का भाव' की उपमा दी गई है। (यह उपनिषद् की अदार्शनिक भाषा है, यह भूलना नहीं चाहिये)।

उपर्युक्त कथनों से दो तथ्य ज्ञात होते हैं—(१) निद्राकाल में बाह्य और आभ्यन्तर विषयों का विशेष ज्ञान नहीं रहता; और (२) एक प्रकार का सुखमय बोध रहता है। प्रत्येक जीव का दैनन्दिन अनुभव ऐसा ही है।

उपर्युक्त कथनों का स्पष्टीकरण वाञ्छनीय है। सुख शब्द का अर्थ यह है कि जाग्रत्काल में निरन्तर विषय-व्यापार-जनित चेष्टा से चित्त के क्लान्त हो जाने के कारण जो क्लेश होता था, वह इस अवस्था में नहीं रहता। भारवाहक के भार को हटा लेने पर जैसे एक प्रकार का 'सुख' मिलता है इस अवस्था में ऐसा ही बोध होता है। आयासहीन होने मात्र से सुख मिलता है; निद्रा में एक प्रकार की निरायासता होती है, अतः कहा जाता है कि निद्राकाल में सुखबोध होता है। निद्रा के कार्यकारणों को देखने से विज्ञात होगा कि **यह आनन्द सत्त्वगुण का उच्च विकाश रूप आनन्द नहीं है; बल्कि चित्त का तामस भाव है, जिसमें निरायासता के कारण अंशतः सुख का बोध होता है।**

शास्त्रों में निद्राकालीन आनन्दावस्था का जो उल्लेख मिलता है, वह आनन्द त्रैगुणिक है। जिस दृष्टि से मोक्ष को 'सुख' कहा जाता है, सगुण या

निर्गुण ब्रह्म को 'आनन्दस्वरूप' कहा जाता है, उस आनन्द या सुख से निद्राकालीन आनन्द का वास्तव सम्बन्ध नहीं है, बल्कि तत्त्वतः ये दो परस्पर विरुद्ध हैं—हाँ कुछ बाह्य सादृश्य अवश्य है, जिससे साधारण बुद्धिवालों को यह भ्रम हो जाता है कि निद्राकाल में चित्त अपने कारण में लीन हो जाता है या जीव ब्रह्म का साक्षात्कार करता है।

निद्रा अवस्था के निरोध-बहुल होने के कारण (चाहे वह निरोध श्रम-हेतुक कृत्रिम ही क्यों न हो) वह अवस्था अलक्ष्य होकर ही विद्यमान रहती है। इस अलक्ष्यावस्था के साथ योगज चित्तरोध की अलक्ष्यावस्था का बाह्य सादृश्य है। सत्त्वबहुल जाग्रत्काल में ज्ञान का जो उत्कर्ष रहता है, वह उत्कर्ष भी तमोबहुल निद्रा में संभव नहीं है, अतः निद्रा की अलक्ष्यावस्था पर बहुमान कर उसको एक उच्च चित्तस्थैर्य के रूप में मानना भ्रान्त दृष्टि ही है।

निद्राकाल में जो 'विशेष-विज्ञानाभाव' रूप 'एकाकार ज्ञान' होता है, वह वस्तुतः अद्वैतज्ञान या ब्रह्म के साथ तन्मयता नहीं है। निद्रारूप एक घोर तमःप्रधान चित्तावस्था में इन्द्रियवर्ग का जड़ीभाव हो जाता है, अतः एक अस्फुट ज्ञानवृत्ति मात्र रह जाती है। इस 'अस्फुट-ज्ञान-वृत्ति' (जो विशेष रूप से किसी बाह्यान्तर पदार्थ को नहीं जानती) को ही 'एकीभूत प्रज्ञानघन' आदि शब्दों से उपनिषद् में कहा गया है।[1]

---

१. 'निद्राकाल में अभाव का बोध होता है', इस प्रकार का एक मत प्रचलित है। इसका तात्पर्य यह है कि अभाव-विषयक प्रत्यय का आश्रय कर जो वृत्ति उठती है वह निद्रा है (योगसूत्र १।१० की व्याख्या भी किसी-किसी ने ऐसा कहा है)। यहाँ विचारना चाहिये कि जाग्रत् काल में 'घटाभाव' 'पटाभाव' रूप से जिस प्रकार के अभाव का ज्ञान होता है (जिस ज्ञान में प्रतियोगी के रूप में घट आदि का भी स्फुरण होता है) तादृश अभाव-ज्ञान निद्रावस्था में कदापि नहीं होता। अतः निद्रा में अभावविषयक ज्ञान होता है, यह नहीं कहा जा सकता। साथ ही यह भी मानना ही होगा कि उस

यह स्पष्टतः जानना चाहिये कि निद्रा में चित्त का वस्तुतः लय (अपने उपादान के साथ अविभागापन्न होना) नहीं होता, अत्यधिक जड़ता से चित्त अभिभूत मात्र रहता है तथा चित्त में ईषत् क्रिया होती ही रहती है, अन्यथा परिपाकक्रिया, श्वास-प्रश्वास आदि नहीं होते।

निद्राकालीन सुखबोध—निद्रागत तामस सुख पर कुछ विचार्य है। हमारा कहना है कि चाञ्चल्य के अभिभव मात्र होने पर जो तामस स्थैर्य होता है वह कृत्रिम सुख है; प्रकृत सुख के लिये सत्त्वगुण की प्रबलता चाहिये। स्थिरता तमोगुण में भी है, सत्त्वगुण में भी है। स्थिरता के साथ पीडाभाव की अल्पता अविनाभावी है। निद्रा में आयासहीनता प्रयुक्त पीडा-की अल्पता की स्थिति है, साथ ही सत्त्वगुण का स्वाभाविक योग रहता ही है; यही कारण है कि निद्रा में एक प्रकार का सुख (जो अंशतः कृत्रिम है) उपलब्ध होता है। गीता १८।३९ में कहा गया है कि मोहकर सुख निद्रा में उद्गत होता है।

निद्रा की यह स्थिरता समाधि की सम्यक् विपरीत है और यही कारण है कि समाधि के लिये निद्रावृत्ति का सम्यक् रोध आवश्यक होता है। निद्रा और समाधि दोनों स्थैर्य-विशेष हैं; पर एक पङ्किल जल की स्थिरता है तो दूसरा स्वच्छ जल की स्थिरता।

निद्राकालीन कृत्रिम रोध और समाधिकालीन यथार्थ रोध के विषय में यह ज्ञातव्य है कि चित्त की दोनों वृत्तियों के मध्य में अत्यल्पक्षण-व्यापी एक वृत्तिशून्य काल रहता है। योगशास्त्रोक्त कौशल से इस काल की वृद्धि की जा सकती है। स्वेच्छापूर्वक इस प्रकार की वृत्तिशून्य अवस्था लाना

काल में ज्ञान रहता ही है (अन्यथा स्मृति नहीं होगी); अतः यही मानना संगत होता है कि रुद्धावस्था का ज्ञान होता है, या बाह्याभ्यन्तर स्फुट ज्ञान के रोधक जाड्य का ज्ञान होता है। यदि 'अज्ञान का ज्ञान' कहा जाय तो अज्ञान वहाँ भाव पदार्थ होगा। इसी दृष्टि से आचार्यों ने निद्राज्ञान को निर्विशेष ज्ञान भी कहा है।

ही योग है (यदि किसी तत्त्व में चित्तबन्धन पूर्वक यह होता है तो)। इस अवस्था में शरीर की यान्त्रिक क्रियाओं का नाश हो जाता है। यान्त्रिक क्रियाओं का 'स्तम्भित प्राण की अवस्था' में रहना Suspended animation जातीय स्थिति है। वर्तमान शरीरविज्ञान के आलोक में ईदृश स्थिनि का अपलाप नहीं किया जा सकता।

निद्रा में यान्त्रिक क्रियायें चलती रहती हैं; चित्त वस्तुतः किसी ध्येय तत्त्व में स्थिर नहीं होता। यह 'स्थैर्य' भी प्राणी को अवश कर उत्पन्न होता है; पर समाधिज स्थैर्य पूर्णतः स्ववश है। यदि निद्रा स्वरूपतः सात्त्विक स्थैर्य से युक्त होती तो ज्ञान का अन्तःप्रवाह रहता; निद्रा में जाड्याधिक्य के कारण ज्ञान का संचार रुद्धप्राय रहता है (प्रयत्नविशेषपूर्वक सात्त्विक निद्रा के आनयन करने पर स्थैर्य और सात्त्विक प्रकाश के संयोग होने के कारण अनागत ज्ञान आदि उत्पन्न हो सकते हैं) जब कि प्रकृत समाधि में किसी न किसी तत्त्व में ही चित्त स्थिर रहता है।

सुख-दुःख-मोह रूप जो त्रिविध 'चेतना' अध्यात्मवादियों ने मानी है (शान्तिपर्व २१९।११); उनमें जो मोह रूप[1] चेतना है, वही निद्रा में प्रबल रूप से रहता है – यह हमारा निष्कर्ष है। इस मोह में निरायासता है, अतः निद्रा भी आयासहीनता से युक्त प्रतीत होती है। इस निरायासता-जनित कृत्रिम दुःखाभाव को ही हम सुख के रूप में कहते हैं (निद्रा के बोध के प्रतिपादन के समय)। सात्त्विक निद्रा में वास्तव सुख का अनुभवगम्य अनुवेध रहता ही है। बृहदारण्यक २।१।१९ में सुषुप्तावस्था में आनन्द की 'अतिघ्नी अवस्था' की प्राप्ति कही गई है। यह शब्द मोहरूप अवस्था (जहाँ

---

१. मोह के विषय में यह ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार सात्त्विक भाव में क्रम है—प्रहर्ष (= इष्टप्राप्तिनिश्चय), प्रीति (इष्टप्राप्ति) और आनन्द (इष्टभोग) उसी प्रकार तामस भाव में भी क्रम है—पहले श्रम उसके बाद तन्द्रा और उसके बाद मोह। द्र. अश्व. ३१।१।२। यह क्रम प्रायिक है॥

निरायासता जनित सुखबोध है) को ही कहता है, वस्तुतः आनन्दावस्था को नहीं।

सुख-दुःख-मोह के विश्लेषण करने पर विज्ञात होता है कि जिस व्यापार में बोध की स्फुटता अधिक है पर stimulation (बोधोत्पादक क्रिया) अधिक नहीं है या क्रिया जहाँ अधिक सहज है, वहाँ सुख अधिक है। क्रियाधिक्य (overstimulation) होने पर उसी क्रिया से दुःख (पीडाबोध) होता है। ये दो भाव जहाँ अल्प हैं, वहाँ जडताप्रधान मोह बोध होता है। निद्रा में क्रियाभाव की अल्पता होने से सुखबोध की उत्पत्ति होती है पर वह मोहबोध से आक्रान्त हो जाता है। सत्त्वोद्रेकजनित सुख निद्रा में अत्यन्त अल्प ही है, आयासहीनता-हेतुक असात्त्विक प्रसन्नता ही प्रमुखतया है। इस प्रसन्नता को प्रकृत प्रसन्नता समझना भ्रान्ति है।

गुणत्रय के साथ सुख, दुःख और मोह (=सुखदुःखबोधशून्य एक प्रकार का अस्फुट बोध) का संबन्ध अध्यात्मशास्त्र में कहा गया है। क्रिया और जाड्य की अल्पता के साथ ही प्रकाश की अधिकता हो तो वह सात्त्विकता है अनायाससाध्य होने पर भी यदि बोध अस्फुट हो तो वहाँ 'मोह' है। चाञ्चल्य अधिक हो, साथ ही बोध हो तो वहाँ दुःख होगा। प्रकाशशील, क्रियाशील और स्थितिशील गुणों को देखकर अध्यात्मवादी ने यह कहा है कि सत्त्व से सुख, रजः से दुःख और तमः से मोह होता है तथा ये तीन एक अन्य पर आश्रित रहते हैं।

निद्राकालीन अपीतावस्था—निद्राकाल की ज्ञानशून्यावस्था के विषय में छान्दोग्य ६।८।१ का वचन प्रसिद्ध है—यत्रैतत्पुरुषः......स्वं ही अपीतो भवति। निद्रा के तामस स्वभाव तथा अन्य कार्यादि के पर्यवेक्षण के बाद हम समझते हैं कि इस 'स्वम् अपीतो भवति' वाक्य में 'स्व' का अर्थ है—'व्यावहारिक आत्मा' (चिदात्मा नहीं); अध्यात्मशास्त्र में इसी को 'अस्मिता' कहा जाता है। इन्द्रिय और चित्त का विषयाभिमुख संचार इस अवस्था में रुद्ध हो जाता है और चित्त संचरणशून्य होकर मुग्धवत् रहता है,

यही वस्तुतः 'स्वम् अपीतो (=अपिगतः) भवति' का अर्थ है[१]। अन्तः करण का अपने व्यापारों को उपसंहृत कर रहना ही यह अवस्था है।

सुषुप्तिकाल में प्राण जागता ही है (प्राण एकोऽ श्रान्तो देहे कुलाये यो जागर्ति—शंकर) तो जीव कैसे स्वरूपप्राप्ति कर सकेगा; प्राण का जागरण स्वप्न और निद्रा में भी है—यह ज्ञातव्य है। शंकराचार्य ने इस श्रुति को उद्धृत कर 'प्रलीन जैसा' ही कहा है (वस्तुतः 'जीवचित्त का लय' नहीं)—"स (आत्मा) उपाधिद्वयोपरमे सुषुप्तावस्थायाम् उपाधिकृतविशेषाभावात् स्वात्मनि प्रलीन इवेति स्वं ह्यपीतो भवतीत्युच्यते (शारीरक १ १।९) निर्वचन के स्थलों में शुद्ध दार्शनिक दृष्टि की आशा नहीं करनी चाहिये।

यह स्पष्टतया ज्ञातव्य है कि यदि वस्तुतः जीव (जीवरूप उपाधि) का लय होता तो पुनः पूर्व संस्कारादि के साथ वही जीव प्रतिबुद्ध नहीं होता (जागरण में)। अतः मानना होगा कि संस्कार आदि के रहने पर भी यादृश 'लय' सम्भव है, तादृश लय होता है। 'लय' शब्द से श्रुति के अर्थ में भ्रम होता है; अतः हम 'संचारहीन रुद्धावस्था' शब्द का प्रयोग करते हैं। जल में जलबिन्दु का जैसा अविभागरूप लय होता है, तादृश चित्त-

---

१. उपर्युक्त छान्दोग्यवाक्य से यह भ्रम होता है कि इस अवस्था में जीव परमार्थसत्य ब्रह्म में वस्तुतः प्रतिष्ठित होता है। श्रुति का तात्पर्य ऐसा नहीं है। यहाँ 'स्वपिति' (स्वप् धातु लट् तिप्) का लौकिक निर्वचन दिखाया गया है (स्वम् अपीतो भवति)। साधारण लोग इस शब्द का यह तात्पर्य समझते हैं कि 'स्व' को प्राप्त होता है। लौकिक व्यक्ति का अनुभव है कि ज्वरादि बाह्य उपद्रवों से छुटकारा मिलने पर जिस प्रकार स्व-स्थ होकर ही कोई विश्रामसुख की प्राप्ति करता है उसी प्रकार जाग्रदादिकालीन श्रम का अपनोदन जब निद्राकाल में देखा जाता है और यह भी देखा जाता है कि इस समय जीव स्वस्थ (शान्त निर्भय रूप में स्थित) है, तो लौकिक दृष्टि से कहा जाता है कि वह सोया हुआ व्यक्ति—'स्वं हि अपीतो भवति' (अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है)।

लय सुषुप्ति में नहीं होता। स्थूल दृष्टि से लय शब्द का प्रयोग किया जा सकता है, पर वहाँ 'कारण के साथ अविभाग' रूप मुख्य लय नहीं होगा। चित्त का व्यापार यदि न चले तो निःश्वासादि नहीं चल सकते, क्योंकि शरीर के व्यापार अस्मिता की सक्रियता पर निर्भरशील हैं। 'जाड्य-हेतुक चित्त-व्यापार का रोध' मात्र निद्रावस्था में होता है।

अध्यात्मशास्त्र कहता है कि वृत्तियों के क्षय होने पर चित्त अपने उपादान कारण में लीन होता है; इन्धनहीन वह्नि जिस प्रकार अपने कारण में शान्त होता है, उसी प्रकार वृत्तिलय के बाद चित्त भी अपने उपादान में लीन होता है (मैत्र्युपनिषद्)। निद्रा में जड़ताप्रयुक्त चित्तसंचार का अभिभव वस्तुतः 'क्षय' नहीं है, अतः उस अवस्था में चित्तलय का कोई प्रसंग ही नहीं है।

प्राण की जड़ता—निद्राकालीन जड़ता के प्रसंग में यह प्रश्न स्वाभाविकरूप से उठता है कि प्राणरूप जो पाँच विधारक इन्द्रियाँ हैं, क्या वे भी जड़ (=व्यापारहीन) हो जाती हैं ? प्राण = प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान[1]। शरीरधारणकारी ये शक्तियाँ (अर्थात् तत्तत् विधारण व्यापार

---

१ पञ्च प्राण पर पृथक ग्रन्थ में विचार किया जायेगा। ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ जिस प्रकार 'आध्यात्मिक करण' हैं और शरीर में उनके बाह्य अधिष्ठान भी हैं उसी प्रकार पाँच प्राण भी आध्यात्मिक करण हैं और शरीरस्थित विभिन्न यन्त्र उनके बाह्य अधिष्ठान हैं। प्राण का कार्य है—शरीर (स्थूल या सूक्ष्म) का विधारण; विधारण = निर्माण, वर्धन और पोषण। बाह्य से उद्भूत बोधों के अधिष्ठानों का धारण करना **प्राण** का कार्य है। अपनयन-व्यापार के अधिष्ठान (= यन्त्रविशेषों) का विधारण करना **अपान** का कार्य है। समनयन-व्यापार के अधिष्ठान का विधारण करना **समान** का कार्य है। धातुगत बोध के अधिष्ठान का विधारण तथा उत्क्रमण आदि से संबन्धित नाडी आदि का विधारण भी **उदान** का कार्य है। चालनशक्ति के अधिष्ठान रूप शरीर यन्त्रों का विधारण **व्यान** का कार्य है। **यह प्राण हवा नहीं है**। शरीरगत वायु का संचार प्राणवृत्ति का

कारी यन्त्र; विभिन्न शरीरयन्त्र ही आध्यात्मिक प्राणों के बाह्य अधिष्ठान हैं) भी क्या जड़ता से आक्रान्त होकर शरीर-विधारणरूप कर्म को छोड़ देती हैं ? उत्तर यह है कि ज्ञानेन्द्रियादि अवस्थाविशेष में जिस रूप से जड़ हो जाती हैं, तमः प्रधानता के कारण **पञ्चप्राणों में उस प्रकार की बहुक्षण-व्यापिनी जड़ता नहीं है।** सत्त्वबहुल ज्ञानेन्द्रिय और रजोबहुल कर्मेन्द्रिय में यादृश जाड्यगुण की सम्भावना है, तमोबहुल प्राणों में तादृश सम्भावना नहीं है। प्राणों की जड़ता अत्यल्प-कालव्यापी है, प्राण की तमःप्रधानता के कारण यह जड़ताहेतुक निद्रा साधारणतया ज्ञात भी नहीं होती। तामस प्राण (ज्ञान-कर्मेन्द्रिय की तुलना में पञ्चप्राण तामस हैं) में तामस जड़ता का ज्ञान करना चित्तस्थैर्यकारी के लिये ही सम्भव है; साधारण व्यक्ति अवहित होकर अस्फुट रूप से इसका ज्ञान कर सकता है। 'निद्राकाल में प्राण जागता रहता है' यह श्रुति में स्पष्टतया कहा गया है।

वैज्ञानिक पर्यवेक्षण से भी अध्यात्मविदों का यह मत सिद्ध होता है। श्वासयन्त्र, हृत्पिण्ड आदि की जड़ता प्रतिक्षण पर्यायक्रम से आती रहती है; अर्थात् एक अंश अक्रिय होता है, अन्य अंश सक्रिय होता है। अक्रिय अंश में जो रोध होता है, वह क्षणव्यापी ही होता है। निद्रा में वाक् आदि इन्द्रियों के निजी कार्य स्तब्ध हो जाते हैं और वे जागरितप्राण द्वारा गृहीत (अभिभूत) हो जाती हैं—यह बृहदा० २।१।१७ (गृहीता वाक्····) से जाना जाता है। तामस प्राण में विद्यमान सत्त्वगुण के प्रकाश से जितना ज्ञान उद्गत हो सकता है, उतना ही ज्ञान उस समय प्रकटित रहता है।

प्राणनक्रिया (जीवनधारणरूप क्रिया) तामस है, अर्थात् यह क्रिया ज्ञान और इच्छा से साधारणतया निरपेक्ष है (यह सामान्य दृष्टि से कहा गया; ज्ञान और इच्छा से प्राणनक्रिया का भी नियमन हो सकता है, पर

अनुसारी है—यह सत्य है। प्राण का संचार वायुसंचारवत् है—यह भी सिद्ध है। संभवतः इन्हीं कारणों से इन्द्रियरूप प्राण को 'वायु' शब्द से कहा गया होगा।

लौकिक साधारण पुरुषों का प्राणनक्रिया पर आधिपत्य न होने के कारण प्राणक्रिया को ज्ञानेच्छा-निरपेक्ष कहा गया है), अतः निद्राकाल में ज्ञान और इच्छा के कथञ्चित् रोध होने पर भी प्राणों का कार्य मन्दगति से चलता ही रहता है; यही इस विषय में कार्यकर युक्ति है।

प्राणवृत्ति का बाह्य प्रकाश श्वासगति है; यह श्वासगति स्वाभाविक रूप से १२ अंगुलि पर्यन्त है (१ अंगुलि=३।४ इञ्च)। गमनक्रिया में यह १६ अंगुल, भोजन के समय २०, निद्राकाल में ३०, स्त्रीसंसर्ग में ३६ अंगुल तक जाता है—ऐसी प्राचीन प्रसिद्धि है। निद्राकाल में यदि प्रकृत वृत्ति-रोध की ओर चित्त जाता तो श्वासक्रिया की गति अत्यल्प होती।

अध्यात्मशास्त्र में कथित प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान रूप पाँच शरीरधारक शक्तियों में किसका प्रभाव निद्रा पर अधिक है (क्योंकि एक प्राण के कार्य में अन्य प्राण सहायक हैं, अतः आधिक्य का प्रश्न ही किया जा सकता है), यह प्रश्न उठ सकता है। चूँकि मुख, हृदय, नाभि, नेत्र आदि में प्राण का स्थान है, तथा चूँकि निद्राकाल में चित्त हृदयदेश में स्थिर रहता है[1], अतः प्राणरूप प्रथम प्राण का प्रभाव ही निद्रा में अधिक है, अर्थात् प्राणव्यापार का ही आधिक्येन अभाव निद्राकाल में होता है। गौण पञ्च प्राणों में 'देवदत्त' संज्ञक प्राण ही प्रबल होकर निद्रा-आनयन में हेतु होता है (जाबालदर्शनोपनिषद् आदि द्र०)। निद्रा के आनयन में उदान का हाथ भी विशेषतः रहता है। उदान शरीरगत उष्मा का नियन्ता है। तेजः की उपशान्ति में उदान ही कार्य करता है, अतः निद्रा रूप प्रशान्तभाव के आनयन में उदान भी विशिष्ट कार्य करता है। प्राणविद्यापरक ग्रन्थ में इस पर विचार द्रष्टव्य है।

---

१. स्थैर्य या जड़ता का विशेष संबन्ध हृदयदेश से ही है। किसी प्राणी के देह के ताप को यदि प्रक्रियाविशेष से ठंडा कर दिया जाय तो हृदय का स्पन्दन अवरुद्ध हो जाता है। मृतप्राय उस प्राणी को तापहीनता की स्थिति से उठाने के लिये देह में ताप की वृद्धि जब की जाती है तब हृत्-

यह प्रश्न हो सकता है कि निद्राकाल में आच्छादकतम के प्राबल्य के साथ (जाग्रत्-स्वप्नकाल में भी वह तम अभिभूत अवस्था में रहता ही है) ज्ञान की स्फुरता के अभाव का क्या सम्बन्ध है ? उत्तर यह है कि ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय को अपने विषय का व्यवहार (ज्ञेय और कार्यरूप से) करने के लिए प्राण की सहायता चाहिये; देह-धारण-शक्ति के जाड्य से आक्रान्त होने पर अन्य इन्द्रियों की वृत्ति स्तब्धप्राय हो जाती है।

अध्यात्मविदों ने इसी रहस्य के आधार पर निद्राजय के उद्देश्य से प्राण को पुष्ट करने के लिये (योगाभ्यास की सिद्धि के लिये) नाना प्रकार के उपाय कहे हैं।

निद्राकालीन अभिभवसंबन्धी संशय—निद्रा में इन्द्रियाँ मन आदि जाड्य से अभिभूत हो जाते हैं और मस्तिष्क की क्रिया लक्षित नहीं होती—इस सिद्धान्त में किसी किसी का यह आक्षेप है कि मस्तिष्क का पूर्णतः क्रिया हीन होना संभव नहीं है। अध्यात्मवादी का उत्तर यह है कि मस्तिष्क का ग्राहक अंश जिस प्रकार क्लान्त होकर व्यापार से उपरत होकर विश्राम लेता है, उसी प्रकार मस्तिष्क का चिन्तनांश भी अवश्यंभावी रूप से विश्राम लेगा। मस्तिष्क की यह 'चिन्ताशून्य' अवस्था निद्राकाल में होती है। (चिन्ताशून्य का अर्थ सम्यक् क्रियाशून्यावस्था नहीं है)

हमारा यह भी कहना है कि शरीर का प्रत्येक क्रियाशील अंश विश्राम अवश्य लेगा। मस्तिष्क भी विश्राम अवश्य लेगा। यदि कोई यह कहे कि

पिण्ड में ही पहले ताप देना पड़ता है; पूरे देह में समान रूप से ताप को विकीर्ण कर देने पर उस प्राणी की मृत्यु हो जाने की संभावना होती है। चूहा या चूहाजातीय प्राणी पर वैज्ञानिकों का यह परीक्षण-जनित फल है। इससे अनुमित होता है कि विषयग्रहणकारी मन हृदय में ही रुद्ध होता है (हृदय वस्तुतः अध्यात्मभूत पदार्थ है, यद्यपि उसका बाह्य अधिष्ठान शरीर में है)। मन हृदय में ही क्यों नियन्त्रित होता है, इस पर देखो मेरा ग्रन्थ, **इतिहास-पुराण का अनुशीलन**' (अ० २८)।

कार्डियक पेशी विश्राम नहीं लेती तो हमारा यह सुचिन्तित अभिमत है कि दो आघातों के बीच में वह पेशी भी विश्राम लेती ही है (क्षण भर के लिये)। यह 'विश्रामग्रहण' वैज्ञानिकों को भी मानना पड़ता है (The only rest the cardiac muscles enjoy is the momentary pause between the heart beats—R. C. Macfie)[१]।

निद्राकाल में ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियाँ जो जडीभूत हो जाती हैं, वहाँ जडता का अर्थ है—'बोध और क्रिया की अल्पता या अभिभूतता'। सुनिद्राकाल में भी यह 'अल्पता' रहती है; यही अल्पक्रिया स्वाभाविक नियम के अनुसार जब बलवती हो उठेगी तब जाड्यभाव की बलवत्ता अपने आप टूट जायेगी। **यही कारण है कि निद्रावस्था किसी बाह्य उद्रेक के न रहने पर भी अपने आप कुछ काल के बाद टूट जाती है।** गुणत्रय का स्वभाव ही ऐसा है कि एक गुण के साथ ही अन्य दो गुण रहते ही हैं। मानों कि अन्य दो गुणों की सहायता के विना कोई गुण कोई कार्य कर ही नहीं सकता। तमः कार्यभूत जड़ता बोध और क्रिया के साथ प्रबलरूप से अन्वित होकर ही चित्त को अभिभूत कर निद्रावस्था का आनयन करती है। प्राकृतिक नियम से जड़ता का अभिभव क्रिया की प्रबलता द्वारा होने पर निद्रावस्था टूटेगी।

---

१. हृत्पिण्ड दोनों स्पन्दनों के बीच के काल में ही अपना विश्राम ले लेता है, इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि हृत्पिण्ड में यह बल कहाँ से आया। जब कि अन्य अंगों को कुछ समय लेकर विश्राम करना पड़ता है। निउइयर्क का डा० किश ने इस पर पर्यवेक्षण किया है। उनका कहना है कि हृत्पिण्ड की पेशी के तन्तु सूक्ष्मतन्तुमय सार्कोसोम द्वारा गठित हैं। ये सार्कोसोम विपुल परिमाण में एनाजाइम का वहन करते हैं जिससे हृत्पिण्ड की पेशी अत्यधिक पुष्टि को प्राप्त करती रहती है; इस अतिरिक्त पुष्टि के कारण ही हृत्पिण्ड को पृथक् रूप से विश्राम लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

वस्तुतः निद्राकाल में ज्ञानेद्रिय, पञ्चप्राण और कर्मेन्दियों की क्रिया का सम्यक् रोध नहीं होता। एक स्प्रिंग के ऊपर भार रख देने से जिस प्रकार स्प्रिंग अभिभूत हो जाता है (पर ऊपर उठने की चेष्टा करता रहता है) उसी प्रकार इन्द्रियादि जाड्य से अभिभूत मात्र होते हैं। इस अभिभव को लक्ष्य कर ही निद्रा को 'मोहावस्था' कहा गया है। सुनिद्राकाल में भी परिपाक-क्रिया, श्वासादि-क्रिया चलती ही रहती है; अतः निद्राकालीन चित्तेन्द्रियादि का रोध वस्तुतः रोध नहीं है, 'आच्छन्न होकर संचार-शून्यता' (पर संचारप्रवणता से युक्त) मात्र है—यह हमने पहले भी कहा है[1]॥ ऐसा प्रतीत होता है कि निद्रा में संकल्पवृत्ति का अभाव देखकर ही 'मन का लीन होना' रूप मत प्रचलित हो गया है। यह असम्यक् दृष्टि है; वृत्ति के न रहने पर वृत्तिमान् का वस्तुतः अभाव नहीं होता-यह अध्यात्मवाद का अनुमत दर्शन है।

शरीरादि में क्लान्ति का हेतु—हमने शरीर, इन्द्रिय आदि के क्लान्त हो जाने की बात कही है (शान्ति० २७४।२३; बृहदा० १।५।२१; आदि द्र.)। ये शरीरादि क्लान्त होते ही क्यों है—यह प्रश्न उठता है। 'ऐसा होना इसका स्वभाव है'--यह उत्तर आपातदृष्टि से दिया जाता है;

---

१. यह प्रश्न हो सकता है कि निद्राकाल में आच्छादक तम के प्राबल्य के साथ (जाग्रत् और स्वप्नकाल में भी वह तम अभिभूत अवस्था में रहता ही है) ज्ञान की स्फुटता के अभाव का क्या सम्बन्ध है? उत्तर यह है कि ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय को अपने विषय का व्यवहार (ज्ञेय और कार्य रूप से) करने के लिये प्राण की सहायता चाहिये; देहधारणशक्ति (यह आध्यात्मिक शक्ति है) ही प्राण है। प्राणशक्ति के जाड्य से आक्रान्त होने पर अन्यान्य इन्द्रियों की वृत्ति स्तब्धप्राय हो जाती है। अध्यात्मविदों ने इसी रहस्य के आधार पर निद्राजय के उद्देश्य से प्राण को पुष्ट करने के लिये (योगाभ्यास की सिद्धि के लिये) नाना प्रकार के उपाय कहे हैं।

अध्यात्मविदों की गवेषणा इस क्लान्ति के रहस्य पर जो आलोकपात करता है वह आर्षदृष्टि की तलस्पर्शिता का परिचायक है। यह इस प्रकार है—

प्रत्येक क्रिया (शारीरिक हो या ऐन्द्रियिक हो या मानस हो) सकोच-विकाश-शालिनी है[1]। ये संकोच-विकाश अत्यन्त द्रुत होते हैं। आलोक-क्रिया, ताप-क्रिया आदि का एक एक स्तोक (quantum) आज के वैज्ञानिक नाप कर दिखाते हैं, जिससे क्रियाप्रवाहों की द्रुतता का परिज्ञान होता है। वस्तुओं की स्थूलता-सूक्ष्मता पर क्रिया के संकोच-विकाश का परिमाण निर्भर करता है; चित्त की संकोच-विकाशात्मक क्रिया और इन्द्रियों की क्रिया समान नहीं है अर्थात् चित्त का परिणाम-क्रम स्थूलेन्द्रिय के परिणाम-क्रम से द्रुततर है (क्योंकि इन्द्रियाँ चित्त से स्थूल हैं)। इसका फल यह होता है कि कुछ चित्त-क्रिया को निष्पन्न करने में स्थूल इन्द्रियाँ क्लान्त हो जाती हैं पर चित्त क्लान्त नहीं होता। अधिक कार्य करने के कारण बाद में हमारी प्राणशक्ति (जो चित्ताधिष्ठान की धारणकारिणी तथा स्थूलाभिमानिनी है) अभिभूत हो जाती है। इस अभिभव के तारतम्य से स्वप्न और निद्रा होती है। स्वप्न और निद्रा के अन्तर्गत नाना प्रकार के भेद भी इस तारतम्य के कारण ही होते हैं। क्लान्त प्राण के द्वारा इन्द्रियों का चालन उचित मात्रा में न होने के कारण ज्ञान की अस्फुटता और क्रिया की मृदुता होती है।

उपर्युक्त सिद्धान्त से यह मोक्षसाधनपक्षीय मत निर्गलित होता है कि जो व्यक्ति इन्द्रिय-संयम-पूर्वक विषयग्रहण का कुछ रोध कर सकता है उसके रोध-क्रम के अनुसार निद्रा की अल्पता होती है और संयम की पराकाष्ठा में निद्रा की आवश्यकता नहीं होती।

क्रिया के इस असमञ्जस स्तरभेद के कारण ही हम देखते हैं कि गमनादि क्रिया करने में स्थूल इन्द्रियाँ जितनी शीघ्रता से जिस परिमाण में

---

१. नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च। कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते ॥ (भाग० ११।२२।४३) यह वाक्य विचार्य है।

क्लान्त[१] हो जाती हैं, इन्द्रिय-चालक मन उतने काल में उतने परिमाण में क्लान्त नहीं हो जाता। यह सभी जानते हैं कि हम भोजन-गमन-श्रवण-दर्शन आदि की चिन्ता जितनी देर तक कर सकते हैं (पूर्णतः या अंशतः एकाग्रता के साथ), उतने समय पर्यन्त उन उन भोजनादि क्रियाओं को हमारी इन्द्रियाँ कर नहीं सकतीं। व्यायाम-विशेष और खाद्यविशेष आदि के प्रयोग से स्थूल इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ाया जा सकता है; पर यह वर्धित शक्ति कभी भी तत्तत् क्रिया की मानस शक्ति की समान नहीं होगी। **शरीर, इन्द्रिय और मन के इस क्रियास्तरानुसारी शक्ति-स्तर के भेद को जानकर ही अध्यात्मविद् ऋषियों ने तपः और सदाचार के क्रमिक कठोर नियमों का आविष्कार किया है।**

संमोहन के बल पर जो निद्रा संमोहित व्यक्ति पर आती है (वह प्रकृत निद्रा नहीं है) वह श्रमापनोदन-हेतुक ही प्रधानतः है। संमोहक अपनी इच्छाशक्ति के बल पर संमोहित को आच्छन्न करता है, जिससे निद्रावत् अवस्था होती है। यह कृत्रिम है; निद्रा से इस 'अचेतनावस्था' का भेद सभी मनोवैज्ञानिक मानते हैं। निद्रा की गाढ़ सुखमय अवस्था इस अवस्था में नहीं होती। संमोहनजनित निद्रा को बार-बार उद्भूत करने पर रोग होने की संभावना रहती है, जबकि निद्रा प्रतिदिन आने पर भी किसी रोग की उत्पादिका नहीं होती।

निद्रा और शरीर—अध्यात्मविदों ने पाँच 'देहदोष' माने हैं, जिनमें निद्रा अन्यतम है। (शान्ति० ३०१।५४)। देह-दोष का अर्थ है—जब तक

---

१. क्लान्ति के प्रसंग में क्लान्ति दूर करने का एक योगशास्त्रभाषित लघु उपाय यहाँ कहा जा रहा है। जिह्वा द्वारा कौशल-विशेष से वायुपान करने से श्रम का लाघव होता है। अन्य उपाय भी हैं। निद्राकाल में जिस प्रकार की श्वास-प्रश्वासगति होती है, उपायविशेष से उस प्रकार की गति उद्भुत की जा सकती है--इससे श्रमबोध दूर होता है। ये सब हम लोगों द्वारा परीक्षित तथ्य हैं।

घृणास्पद देह का धारण होता रहेगा, तब तक निद्रा होती रहेगी। चूँकि निद्रा शरीरधारी प्राणी में ही उत्पन्न होती है, इसलिये इसको 'धार्यगत अवस्थावृत्ति'[1] (धार्य = शरीर) कहा गया है। शरीर-श्रम के आधिक्य के साथ निद्रा का आधिक्य देखा जाता है तथा यह भी देखा जाता है कि शरीर संबन्ध को ज्ञानाभ्यास से जितना क्षीण किया जायेगा, निद्रा की आवश्यकता भी उतनी ही कम होती जायेगी। प्राणायाम आदि के अभ्यास से शारीरिक अस्मिता जैसी जैसी क्षीण होती है, निद्रा भी तदनुसार क्षीण होती रहती है, यह कोई भी परीक्षा कर देख सकता है।

चूंकि निद्रा शरीर-संबन्ध-मूलक है, इसलिये निद्रा की गाढ़ता-अल्पता आदि पर शरीर की अवस्थाओं का प्रभाव सीधा पड़ता है। शरीर की पुष्टि, वर्ण, बल आदि पर निद्रा का प्रत्यक्ष प्रभाव शास्त्रसंमत है। शरीरपुष्टिकारी आहारविशेष से निद्रा का संबन्ध भी स्वीकरणीय है। यह शरीर-संबन्ध इतना गम्भीर है कि कभी कभी मानसिक प्रभाव का अतिक्रमण कर शारीरिक प्रभाव निद्रा पर कार्य करता है। यह एक सामान्य अनुभवसिद्ध बात है कि मन को क्लान्त करने से निद्रा जितनी गाढ़ होगी, शरीर को क्लान्त करने से निद्रा उससे भी गाढ़तर होगी। शारीरविद्या और मनोविद्या में निद्रासंबन्धी जो गवेषणा है, वह भी निद्रासंबन्धी इस आर्ष दृष्टि की ज्ञापिका है।

योगसाधन की दृष्टि से इस नियम की एक असाधारण उपयोगिता है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, स्मृति रूप चार वृत्तियों के रोध के लिए जहाँ मानसिक शुद्धि और स्थैर्य ही योगियों द्वारा उपदिष्ट होते हैं, वहाँ निद्रा-रोध के लिए शारीरिक स्थैर्य भी प्रमुखता के साथ उपदिष्ट होता है।

---

१. इस प्रसंग में यह बात विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि निद्रा के धार्य शरीरगत अवस्थावृत्ति रूप होने पर भी 'शरीर-संबन्ध-ज्ञान की क्षीणता' इस काल में होती है। इस दृष्टि से ब्रह्माण्डपुराण में 'देहेन्द्रिय-गुणानां च परित्यागः सुषुप्तता' वाक्य कहा गया है (मोक्षकाण्ड पृ. १३६ में उद्धृत)।

इस सिद्धान्त से एक और सिद्धान्त निर्गलित होता है; वह यह कि जिसका शारीरिक संबन्ध (= देहात्मबोध) जितना क्षीण है, उसकी निद्रा उतनी ही कम या अगभीर होती है। अन्तःकरण और इन्द्रिय की तुलना में शरीर तामस है, अतः शारीरिक भाव की प्रधानता होने पर निद्रालुता बढ़ती ही जायेगी—यह अध्यात्मशास्त्र का नियम है। जिन जीवों में शारीर भाव की प्रधानता है, उनमें दीर्घकालिक निद्रा भी है। सर्वाधिक तमः से आच्छादित प्राणी है—वृक्ष; वृक्ष शरीरप्रधान प्राणी है और वृक्ष में निद्रासदृश भाव ही प्रमुखतया है, यह परीक्षणसिद्ध है।

निद्रा के शरीरप्रधानभाव को इस रूप से समझा जा सकता है। अल्पचिन्ताकारी व्यायामकारी से अल्प निद्रालु होता है। शास्त्रोक्त आत्मादि-पदार्थों का चिन्ताकारी अर्थोपार्जनादि-चिन्तक व्यक्तियों से कम निद्रालु होता है। जिस चिन्ता के साथ पार्थिव भाव अधिक्येन अनुविद्ध रहता है, उस चिन्ता में अभिरत व्यक्ति अधिकतर निद्रालु होगा। अपार्थिव चिन्ता में रत होने पर निद्रा की अल्पता होगी (यदि अन्य बाधा न हो)।

जिस जाति के प्राणी में अन्तःकरण का विकाश शरीर से अधिक सूक्ष्म है, उसमें निद्रा की अल्पता है। विभिन्न प्रकार के पशु चिन्ताप्रधान मनुष्य की तुलना में अधिक निद्रालु हैं। कुछ पशु-पक्षियों की निद्रा की दीर्घता तो प्रसिद्ध ही है[1]; मनुष्य की किसी भी शाखा में इतनी लम्बी नींद समान्यतया नहीं हो सकती।

---

१. पशु आदि की निद्रा की दीर्घता प्रसिद्ध है। शीतकाल में इनमें दीर्घकालव्यापी निद्रा आती है; ग्रीष्मकालीन दीर्घनिद्रा भी होती है। चार वर्ष तक एक शम्बूक की निद्रा की घटना ज्ञात है। कार्प जातीय मत्स्य प्रायः श्वासरोध कर मृतवत् अवस्था में शीतकाल में रहता है। शरीर में संचित चर्वी-जातीय पदार्थ से इस समय पुष्टि होती है। दीर्घ निद्रा के लिये ये पशु-पक्षी प्रसिद्ध हैं—मशक, ऊर्णनाभ, कच्छप, मण्डूक, सर्प, उल्लूक, वृश्चिक, चूहा, आदि।

देवजाति[1] में अन्तःकरण का विकाश अत्यधिक है, अतः उस जाति का प्राणी निद्राहीन है। यही कारण है कि देवों का एक नाम अस्वप्न (=अनिद्र) है। चूंकि देवशरीर भी एक विशेष-निर्मित शरीर है, अतः उस शरीर में भी निद्रा आती है (गुणत्रय के नियम के अनुसार) और निद्रा का संस्कार जभी उद्बुद्ध होगा, दैव शरीर का मरण तत्काल हो जायेगा। (विशेष विवरण ग्रन्थान्तर में द्रष्टव्य है)।

नारक और दैव शरीर में पुरुषकार अत्यल्प है; इन शरीरों में भोग की प्रधानता है, अतः पुरुषकार हेतुक श्रम की अल्पता होने के कारण निद्रा आने में विलम्ब होता है। यही कारण है कि दैवशरीरी और नारकशरीरी की आयु प्रायेण दीर्घ होती है। जिस जाति में प्राण की प्रबलता है, उसमें निद्रा का बाह्यरूप स्फुट नहीं होता। देह की स्थूलता और सूक्ष्मता के अनुसार निद्रा की प्रकृति भी होगी, यह ज्ञातव्य है।

निद्रा के साथ शरीर के निकटतम संबन्ध को स्वरोदय योगशास्त्र में इस प्रकार दिखाया है कि शरीर के उपादानभूत पांच भूतों में तेजोभूत शरीर में क्षुधा, तृष्णा, निद्रा, कान्ति और आलस्य के रूप में विद्यमान है। तेजोभूतसंबन्धी धारणाविशेष से क्षुधा आदि पर आधिपत्य किया जा सकता है—इस प्रयोग के बल पर ऐसा कहा गया है। यह भी कहा गया है कि पञ्चीकरण की दशा में (प्रत्येक महाभूत में अन्य भूत का अंश है—यह मानकर) निद्रा रूप अग्नि में आकाश का भी अंश विद्यमान है। प्रतीत होता है कि आकाश के निरावरण और शून्यस्वभाव को देखकर ऐसा कहा गया है। जो भी हो, क्षुधा, तृष्णा आदि के साथ निद्रा की गणना करने का अर्थ है—निद्रा में शरीरधर्म की प्रधानता को स्वीकार करना। हंसोपनिषद् में कहा गया है कि अष्टदलपद्म रूप हृदय के आग्नेय दल में निद्रा का स्थान है। आग्नेय = पूर्व-दक्षिण। उपर्युक्ततथ्य से इसका संबन्ध गवेषणीय है।

---

१. देव और नारक प्राणी का तात्पर्य सूक्ष्मशरीरविशेष-धारी प्राणी से है। इनके अस्तित्व पर ग्रन्थान्तर में विचार किया जायेगा।

शंकराचार्य ने निद्रा की उत्पत्ति के साथ सौरतेजः पूर्ण नाडी की बात (प्रश्न उप० ४।६ तथा छान्दोग्य ८।६।३) कही है। पूर्वोक्त मत के मूल में यही तथ्य है या नहीं—यह गवेषणीय है। यह भूलना नहीं चाहिये कि क्षुधा आदि के साथ नाडीविशेष का निकटतम संबन्ध है (द्र० योगसूत्र ३।३०); निश्चय ही निद्रोत्पत्ति में नाडी का गूढ़ संबन्ध है।

शरीरदृष्टि से हम कह सकते हैं कि ज्ञानवहा शिरा (नाडी) पर कफ रूप दोष का अत्यधिक प्रभाव पड़ने पर निद्रा आती है। इस कफ को केवल स्थूल कफ या श्लेष्मा नहीं समझना चाहिये; धृति या विधारण के अधिष्ठान का विकार ही वस्तुतः त्रिदोषान्तर्गत कफ रूप दोष है; गुण-त्रय की दृष्टि से ऐसा ही कहना होगा। स्थूल श्लेष्मा से उसका निकटतम संबन्ध मात्र है, इसलिये श्लेष्मा को कफ कहा जाता है। शरीर-जाति के भेद से वात-पित्त-कफ में भी भेद होता है। वृक्ष-शरीर तथा देव-नारक शरीर में वात-पित्त-कफ हैं। चूंकि निद्रा शरीरगत अवस्थावृत्ति है, इसलिए शारीरिक दृष्टि से उपर्युक्त कथन (जो आयुर्वेद में बहुधा कहा गया है) सत्य ही है। कफ-दोष-प्रधान व्यक्ति शीघ्र निद्रालु होता है। सूर्यभेदन आदि जिन प्राणा-यामों में कफदोष दूरीभूत होता है, उनके अधिक अभ्यास से निद्रा की अल्पता भी होती है—यह पर्यवेक्षण सिद्ध है।

निद्रा का प्रभाव शरीर में पूर्णतः पड़ने पर भी अङ्ग-विशेष पर वह प्रभाव विशेषतः परिलक्षित होता है। तेजोभूत के साथ निद्रा का साक्षात् सम्बन्ध है, अतः चक्षु-इन्द्रिय पर निद्रा का बाह्य प्रभाव सर्वाधिक प्रकटित रूप से दृष्ट होता है। कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक् में निद्रा का स्फुट प्रभाव लक्षित नहीं होता, यद्यपि सूक्ष्म दृष्टि से पर्यवेक्षण करने पर सभी इन्द्रियों का श्लथभाव (निद्रा-कालोचित) विज्ञात होता ही है। वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ (अर्थात् इन इन्द्रियों के अधिष्ठानरूप शारीर यन्त्र) रूप पाँच कर्मेन्द्रियों में वाक् ही ऐसी है जो अधिकतरमात्रा में शान्त हो जाती है, क्योंकि वाक् के साथ अग्नि (तेजोभूत) का साक्षात् संबन्ध है—अग्निर्वाग्

भूत्वा मुखं प्राविशत् (तै० उप०)। घोरसुषुप्ति के काल में विभिन्न कर्मेन्द्रियों की स्तब्धता सर्वथा समान नहीं होती। उपस्थ और पायु में स्तब्धता का परिमाण कुछ कम ही होगा क्योंकि तेजः का संस्पर्श इनमें अल्प है।

सुनिद्राकाल में दो अक्षिपक्ष्म मिलित होते हैं पर दृढ़ता के साथ बद्ध नहीं होते, क्योंकि प्रयत्न का आंशिक उपराम निद्रा में होता है। अक्षिपक्ष्म को दृढ़ता से मिलाने के लिये स्वेच्छया प्रयत्न चाहिये; यह प्रयत्न निद्रा में नहीं हो सकता।[1] यथार्थ योगज स्थैर्य में प्रयत्नशून्यता होती है (निद्रा में कृत्रिम रूप से प्रयत्न-शून्यता होती है) अतः उस अवस्था में चक्षु अर्धनिमीलित ही होता है। प्राचीन योगियों के जो चित्र या चित्र-निर्माण-शास्त्र मिलते हैं, उनमें योगियों के लिये 'अर्धनिमीलित चक्षु' देखा जाता है या तदनुरूप अनुशासन मिलता है। चक्षु के निमीलन का पर्यवेक्षण कर यह कहा जा सकता है कि कोई व्यक्ति निद्रा में है या स्वप्न में है या योगज स्थैर्य में है। स्वप्नकालीन श्वासगति, निद्राकालीन श्वासगति और चित्तस्थैर्यकालीन (चित्तरोधकालीन नहीं) श्वासगति में भी भिन्नता होती है, अनुभवी व्यक्ति इस भेद को सरलता से जान भी सकता है। मानसिक आवेग की प्रकृति और परिमाण के अनुसार श्वास-प्रश्वास-क्रिया में विलक्षणता होती है; यही कारण है कि प्राणायामपूर्वक चित्तस्थिरीकरण का उपदेश योगियों ने दिया है।

निद्राकालीन मन की स्थिति—इन्द्रियाधीश मन (या जीव) की स्थिति निद्राकाल में कहाँ होती है, इस विषय की चर्चा उपनिषद् में मिलती है। कहा गया है कि सुषुप्त होकर देही जब बाह्य और आभ्यन्तर ज्ञान से शून्य हो जाता है, तब जीव (जीव का मन) हिता नामक नाडीगण (यह नाडी हृदय से सर्वशरीर में व्याप्त है, जो संख्या में ७२००० है) के द्वारा प्रत्यवसर्पण कर पुरीतत् नाडी में शयान रहता है (बृहदारण्यक २।१।१९)।

---

१. कुछ विज्ञानी कहते हैं कि निद्रा में चक्षु का orbicular muscle दृढ़रूप से संकुचित होता है; मुझे इसकी सत्यता में संशय है।

छान्दोग्य ८।६।३ में 'नाडीषु सृप्तो भवति' कहा गया है। शंकराचार्य कहते हैं कि इस काल में जीव सौर तेजः पूर्ण नाडियों में प्रविष्ट होता है और इन द्वारभूत नाडियों से हृदयाकाश में पहुँच जाता है।

श्रुति का यह कथन ध्यानज दर्शन पर निर्भर है और यह संभव नहीं कि यान्त्रिक परीक्षण से उपर्युक्त तथ्य सर्वांशतः प्रमाणित हो जाय; हाँ, चित्त की स्थिरता विशेष के द्वारा ऐसी उपलब्धि की जा सकती है। ध्यानासन में बैठकर निद्राभाव का साक्षात् ज्ञान करते रहने से मन का अलक्षितप्राय संचार ज्ञात होता है।

उपर्युक्त श्रुति से यह तो ज्ञात होता ही है कि सुषुप्तिकाल में मन शरीर में ही रहता है; इन्द्रियाधीश मन का कहीं भी लय नहीं होता। (लय = कार्य का कारण के साथ एकीभाव हो जाना)। जिस प्रकार तप्त लौहपिण्ड में सर्वांशतः अग्नि रहती है, उसी प्रकार शरीर के सर्वांश में ही मन व्याप्त रहता है—शंकराचार्य द्वारा कथित तप्तलौहपिण्ड की उपमा से यही ध्वनित होता है। प्रश्न भाष्य में भी आचार्य ने यही कहा है—"यदा मनो दार्वग्निवद् अविशेषतः विज्ञानरूपेण कृत्स्नं शरीरं व्याप्यावतिष्ठते तदा सुषुप्तो भवति।" (४।६)। अविशेष विज्ञान = सामान्य चैतन्य या चेतनाशाब्दित सामान्य-वृत्ति-रूप (गिरि)।

हिता और पुरीतत् नाडी में निकट संबन्ध है। बृहदा० ४ २।३ से ज्ञात होता है हिता नाडी हृदय में प्रतिष्ठित है। याज्ञवल्क्य भी 'हृदयाद् अभिनिःसृताः' कहते हैं (३।१०८)। पुरीतत् हृदय का आच्छादक है 'पुरीतता हि हृदय माच्छाद्यते' कर्किभाष्य में उद्धृत इस श्रुति से यही तथ्य प्रमाणित होता है। शंकराचार्य भी कहते हैं—पुरीतदिति हृदयपरिवेष्टन मुच्यते (शारीरक ३।२।७)। अतः यही सिद्ध होता है कि मन इस हृदयप्रतिष्ठित नाडी से प्रत्यवसर्पण कर पुरीतत् में (अर्थात् हृदय के अन्तरतम प्रदेश में) रहता है। पुरीतत् में रहने पर भी चित्त की इन्द्रिय-चालिका वृत्ति स्तब्ध मात्र रहती है, नष्ट नहीं हो जाती।

इस प्रसंग में यह तथ्य द्रष्टव्य है—शरीर और उसकी चर्ममय नाडियाँ देशव्यापी पदार्थ हैं, अर्थात् उसमें लम्बाई, चौड़ाई-मोटाई है। मन कालव्यापी पदार्थ है, उसका कोई दैर्ध्य, विस्तार और स्थौल्य नहीं है; अतः एक कालव्यापी पदार्थ का अवस्थान किसी देशव्यापी पदार्थ के किस स्थान में है—यह प्रश्न ही सदोष है, क्योंकि बृहत् आयतन से युक्त किसी देशव्यापी पदार्थ में अल्पपरिमाण से युक्त देशव्यापी पदार्थ जिस रूप से रहता है, उस रूप से यहाँ रहना कथमपि संभव नहीं है, अतः शरीर में मन की स्थिति का तात्पर्य है 'मन से संबद्ध होना'। पूर्ण शररि में 'अहन्ता-बोध' है, अतः पूर्ण शरीर मन से व्याप्त है; यही कहा जा सकता है। निद्रा-अवस्था में मन की उपलब्धि योगज स्थैर्य से जिस स्थान में होती है, बाह्य दृष्टि से उसका कोई स्थान भी वाच्य होता है। पुरीतत् रूप शरीरांश विशेष का नाम इसी रूप से लिया गया है। अर्थात् सुषुप्तिकाल में चित्त जब संचारशून्य हो जाता है तब जहाँ भी उसके अलक्ष्य व्यापार की उपलब्धि होती है (प्रक्रिया विशेष के बल पर) वही सुषुप्ति-स्थान (जीव या चित्त का विश्रामस्थान) कहा जाता है। 'हृदयाकाश' को प्रधानतया सुषुप्तिस्थान कहा गया है।

'निद्राकाल में चित्त के रहने के स्थान' का तात्पर्य है—'उपलब्धिस्थान'। जिस प्रकार आत्मा का निवासस्थान हृदय (वक्षाभ्यन्तरस्थ प्रदेश) कहा जाता है, जिसका हेतु यह है कि हृदय में प्रक्रिया-विशेष से ध्यान करने पर आत्मसत्ता का निश्चय (अनुभव-विशेष के बल पर) होता है, न कि दैशिक-अवयव-हीन आत्मा वस्तुतः मांसमय स्थान में रहता है; उसी प्रकार सुषुप्ति काल में संकल्पक मन की पृथक् उपलब्धि स्फुट रूप से प्रक्रिया-विशेष के बल पर की जा सकती है। हृदयदेश में ही कहीं उसकी उपलब्धि होती है, बाह्य दृष्टि से ऐसा ही कहा जायेगा। उपलब्धि के समय इस बाह्य देश का ज्ञान नहीं रहता, अतः यह स्थान-निर्देश बाह्य दृष्टि से अनुमान के बल पर किया गया है। उपलब्धि-स्तर-भेद के अनुसार ही आत्मा के निवास-स्थान निर्णय में जिस प्रकार मतभेद होता है (वस्तुतः

कोई निवास-स्थान नहीं है) उसी प्रकार निद्राकाल में जीव या मन या चित्त के निवासस्थान संबन्धी उल्लेखों के विषय में भी जानना चाहिये। नाडियाँ स्वरूपप्रतिपत्ति की द्वारभूत हैं—यह शंकराचार्य भी कहते है (तै. उप. १।६ भा०)। नाडी रूप शरीरांश-विशेष के स्पष्ट परिचय देने के लिये आध्यात्मिक दृष्टि के अनुसार शरीर के व्यूहन (= ज्ञान-चेष्टा-विधारण के साधक यन्त्रों के उपयोगी सज्जीकरण) पर कुछ कहना है। ज्ञान, कर्म और धृति इन तीनों के संस्कार से युक्त अन्तःकरण अपने अनादि संस्कार से शरीरधारण के लिए उन्मुख रहता है और ब्रह्माण्ड रूप ग्राह्य विषय के आविर्भाव होने पर (किसी प्रजापति के संकल्प के कारण) उस बाह्य उपादान को लेकर शरीर रूप में उसका व्यूहन कर कर्म करता रहता है। यह है विशेष निर्मित सूक्ष्म शरीर, जिसके ऊपर मातापितृज शरीर बाह्य वस्त्र की तरह लगा रहता है। शरीर के उपादान का व्यूहनकारी अन्तः-करण की त्रिविध योग्यता के कारण ज्ञानयन्त्र, चेष्टायन्त्र और विधारण-यन्त्र (निर्माण-वर्धन-पोषण ही विधारण है) के रूप में नियन्त्रित होकर शरीर अपने रूप में व्यवस्थित हो जाता है (वस्तुतः शरीर यन्त्रसमष्टि ही है)।

अन्तःकरण और बाह्य विषय के मध्य में शरीर रहता है। बाह्य के मूली-भूत विषय-क्रिया से अन्तःकरण में जो परिणाम होते हैं, उनसे अन्तःकरण में त्रिविध द्वारवत् इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं (यही मूल इन्द्रियाँ हैं), जो ज्ञानेन्द्रिय (ज्ञेय-विषय-व्यवहारार्थ) कर्मेन्द्रिय (कार्यविषय-व्यवहारार्थ) तथा पञ्चप्राण (धार्य विषय व्यवहारार्थ) हैं ॥

ये इन्द्रियाँ शरीर-प्रतिष्ठित हैं। इन्द्रिय और चित्त विषय का व्यवहार कर सके, इसलिए स्वाभाविक नियम के अनुसार शरीर में विषयग्रहण की अनुकूल उपयोगिता विद्यमान है। ज्ञान-चेष्टा-विधारण कर्म के लिये यह उप-योगिता नाडी रूप[1] उपयोगी पदार्थ की उत्पत्ति में हेतु होता है।

---

१. नाडी-स्वरूप के विषय में हम पृथक ग्रन्थ में आलोचना करेगें। अभी इतना ही ज्ञातव्य है कि नाडी का मूल अर्थ है 'नाली' जिससे होकर

निद्राभंग—निद्राभंग के विषय में अध्यात्मशास्त्र का यह प्राथमिक कथन है कि यह भंग स्वाभाविक रूप से ही होता है। इसके लिये पृथक् किसी हेतु का रहना अपरिहार्य नहीं, क्योंकि त्रिगुण के स्वभाव के कारण ही कोई भी चित्तवृत्ति सर्वकालव्यापी नहीं हो सकती। अपने बल से निद्रा जितने काल पर्यन्त रह सकती है (अभिभवकारिणी जड़ता जब तक क्रिया या प्रकाश से अभिभूत न हो जाय) उस काल को उपायविशेष से घटाया जा सकता है (तथा बढ़ाया भी जा सकता है)। प्रत्येक वृत्ति का निश्चित भोगकाल है और नूतन हेतु का संयोजन यदि न हो तो भोगकाल के बाद वह टूटेगी ही; निद्रा के भंग के बाद जिस गुण का प्राबल्य रहेगा, वह उसका स्थान अधिकार करेगा। नियम यही है कि प्रबल तामस भाव के बाद राजस अवस्था ही आती है और उसके बाद सात्त्विक। यही कारण है कि निद्रा के टूटने के बाद स्वप्नावस्था आती है और उसके बाद जाग्रत् अवस्था। यह राजस अवस्था कभी-कभी अत्यल्प-समय-व्यापी होती है, अतः निद्रोत्तरकालीन स्वप्नावस्था लक्षित नहीं होती। निद्रा के बाद यह राजस

किसी का प्रवाह हो सके। जिसका प्रवाह है तथा प्रवाह का स्वरूप जैसा है, उसके अनुसार नाडी की प्रकृति और परिणाम होगा, यह तो स्पष्ट ही है। बोधवहा नाडी की सूक्ष्मता और रक्तवहा नाडी की सूक्ष्मता एक नहीं हो सकती। साधारणतया नाडी शब्द शिरा, धमनी, स्नायु, पेशी आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। केवल शक्तिप्रवाह भी नाडी शब्द से अभिहित होता है। ध्यानज-प्रत्यक्ष-मात्र-गम्य इडा आदि नाडियाँ यान्त्रिक प्रत्यक्षगम्य नहीं हैं। प्रकृत इडा नाडी का भी स्थूल बाह्य नाडी रूप आश्रय होगा; चित्त द्वार भूत इन्द्रियों के भी शारीरिक अधिष्ठान हैं। नाडी के व्यापार में प्राण का असाधारण सहयोग है—प्रस्थिता हृदयात् सर्वे तिर्यगुर्ध्वमधः स्थिताः। वहन्त्यन्नरसान् नाड्यो दशप्राणप्रचोदिताः॥ (शान्ति० १८५। १५); यहाँ सर्वे = रसाः है।

अवस्था (जिसमें आभ्यन्तर ज्ञान उदित होता है, पर कर्मेन्द्रियाँ जड़भावापन्न रहती हैं) अवश्यमेव उदित होगी।

यह ज्ञातव्य है कि निद्राभंग में जीव की इच्छाशक्ति असाधारण हेतु हो सकती है। यह सर्वजन-प्रसिद्ध अनुभव है कि यदि कोई दृढ़ेच्छ व्यक्ति यह निश्चय कर सोता है कि मैं अमुक समय पर जागरित हो जाऊँगा तो (एक दो बार ठीक उसी समय पर जागरित न होने पर भी बाद में) वह उसी समय जागरित होने लगता है। कभी-कभी काल की यथार्थता अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। इस विषय में ऐसे घटना-प्रमाण मिलते हैं कि देखकर चित्त विस्मित हो उठता है (अर्थात् ३ बजकर १३ मिनट पर उठूँगा—ईदृश संकल्प भी इसी रूप से चरितार्थ होता है; शयन कक्ष से घड़ी को हटा लेने पर भी संकल्प यथावत् सिद्ध होता है)।[1]

निद्राभंग पर इच्छाशक्ति का ईदृश प्रभाव अध्यात्मविद्या के अनुसार सरलतया समझ में आ सकता है। शास्त्र कहता है कि शरीर की क्रिया अस्मितामूलक है; अस्मिता ही सब वृत्तियों की चालिका है, इसलिये अस्मिता में जब यह निश्चय-गुण आहित हो जाता है कि 'मैं अमुक समय पर जागरित हो जाऊँगा', तो इच्छाशक्तिजनित संस्कार ही निद्रावृत्ति को अभिभूत कर जाग्रत्काल को अभिमुख करता है। यह भी ज्ञातव्य है कि इच्छाशक्तिहीन

---

१. हमने यह परीक्षा भी की है कि घड़ी देखकर संकल्प करने के बाद जब व्यक्ति सो गया तब घड़ी का टाइम बदल देने पर भी वह व्यक्ति पहले के निर्धारित समय पर ही जाग उठा। इससे संकल्प की प्रधानता सूचित होती है। संकल्प की शक्ति कितनी विशाल है इसका परिज्ञान सहसा नहीं होता। हमारा विश्वास है कि यज्ञक्रिया का दृष्ट फल संयतचरित्र ऋत्विजों के संकल्प पर ही अधिक निर्भर है; मन्त्ररूप भाषा उस संकल्प के दृढ़ीकरण के लिये है। मन्त्र से ही यज्ञफल मिलता है, देवता के बल पर नहीं —इस मीमांसामत के मूल में यही तथ्य कार्य कर रहा है। संकल्प के बल पर ईदृश फल का उत्पादन करना आज भी देखा जाता है।

व्यक्तियों के जागरण-संकल्प की ईदृश सिद्धि अत्यल्प ही होती है। शारीरिक क्लान्ति यदि अत्यधिक हो और इच्छा यदि दृढ़तर न हो (अर्थात् इच्छा को फलवती करने के लिये आवश्यक स्वस्थता यदि न हो) तो अभीष्ट समय के कुछ काल बाद निद्रा टूटेगी। शरीर, इच्छा, संकल्प—ये तीन त्रिगुण-जात हैं। अतः गुणत्रय के बलाबल के अनुसार ही इच्छा की सिद्धि होती है। अध्यात्म-विदों का कहना है कि निद्रा पर आधिपत्य करने के लिये पूर्वोक्त तीनों की शुद्धि (अर्थात् सात्त्विक बल से अन्वित होना) आवश्यक है। शरीर यदि मेदहीन हो, सुदृढ़ पेशी से युक्त हो, सात्त्विक स्फूर्ति से प्रभावित हो, उपवासादि द्वारा कृश हो, तो उसमें इच्छाशक्ति की सफलता द्रुतता के साथ होगी। मादकादि से शरीर में गुरुता होती है, उससे चिन्तनयन्त्र के कार्य में बाधा होती है, अतः संकल्प के कार्यान्वयन में विलम्ब होगा या विपर्यास होगा। इसीलिए निद्रा पर आधिपत्यकामी को आहारादि में सात्त्विकता का पालन करना आवश्यक हो जाता है (द्र० निद्राजयप्रक०)।

निद्राभंग के विषय में यह मत भी सिद्ध ही है कि कर्म करने से शरीर में (मुख्यतया) जो क्षय होता है (अर्थात् श्रमजनित क्लान्ति), जब तक उसकी पूर्ति निद्रारूप विश्राम से न हो जाय तब तक निद्रा टूटती नहीं है; यह सामान्य नियम है।

बाह्य हेतु से निद्रा टूटने की बात प्रसिद्ध ही है। इसमें यह कार्य-कारण भाव ज्ञातव्य है कि उच्च ध्वनि करने से या स्पर्श करने से कर्ण और त्वक् रूप इन्द्रियाँ उद्रिक्त होती हैं। यह उद्रेक इन्द्रियवाहित होकर चित्त में क्रिया का आधिक्य उत्पन्न करता है और इस आधिक्य के कारण जाड्यावलम्बी निद्रा का नाश हो जाता है। शारीरिक स्पर्श स्नायुस्थित रक्त को प्रवाहित कर चित्त में अधिक क्रियाशीलता की उत्पत्ति करता है, जिससे चैत्तिक जड़ता टूट जाती है।

बाह्य शब्द, स्पर्श आदि साधन के विना भी संकल्पमात्र से यदि निद्रित व्यक्ति के चित्त में क्रियाभाव संयुक्त कर दिया जाय तो निद्रित व्यक्ति जाग-

रित होगा। इस नियम का विपरीत पक्ष भी है, अर्थात् संकल्प के बल पर किसी व्यक्ति में स्थित क्रियाप्रवाह के स्तर को सहसा यदि अत्यधिक स्थिर कर दिया जाय तो वह तत्काल निद्रित होगा। (प्रकृत सम्मोहक यही करता है)।

संकल्पमात्र से कोई किसी के चित्त को इस रूप से वशीकृत कर सकता है, इस पर संशय हो सकता है; आज के मनोवैज्ञानिक इस पर संशय नहीं कर सकते, क्योंकि एक चित्त अन्य चित्त को अभिभूत कर उसमें इच्छानुरूप ज्ञान उत्पन्न कर सकता है—यह घटनाप्रमाणों से बहुधा सिद्ध हो चुका है।

यह देखा गया है कि किसी निद्रित व्यक्ति को उसके नाम से बुलाने पर (चाहे नाम का उच्चारण धीरे से ही किया जाय) वह जागरित हो जाता है, जब कि अन्य ध्वनि से बुलाने पर जोर से चिल्लाना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति का नाम उसका प्रिय होता है, उसके साथ व्यक्ति का एक सम्पर्क हो जाता है; नाम के संपर्क से चित्तेन्द्रिय में (उस सम्पर्क के कारण) अधिक प्रकाश गुण उद्गत होता है, अतः वह व्यक्ति जाग जाता है। निद्राकाल में कोई सम्पूर्ण ज्ञानहीन नहीं होता—यह इसका एक प्रमाण है। किसी प्रकार का सम्पर्क हो जाय तो वह सम्पर्क कितनी सूक्ष्मता से कार्य करता है, यह भी इससे जाना जाता है[1]।

निद्रा की उत्पत्ति और नाश संबन्धी नियम—इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्पत्ति और नाश में शरीरादि अनेक पदार्थों के बलाबल के नियम (मूलतः गुणत्रय का स्वभाव) कार्य करते हैं। चूंकि प्रत्येक इन्द्रिय और इन्द्रियाधिष्ठान (देहांशभूत) की कार्यकारिणी शक्ति असीम है (जो जो व्यक्त पदार्थ है, वह वह परिमित है—इस नियम के अनुसार) इस लिये शरीर, इन्द्रिय और मस्तिष्क के चिन्तनांश क्लान्त होकर विश्राम के

१. धर्मशास्त्रीय एक विधि निद्रा-भंग के प्रसंग में स्मरणीय है। सुषुप्त व्यक्ति चूंकि एक प्रकार के सुख में रहता है इसलिये उसको जगाना नहीं चाहिये—यह धर्मशास्त्रीय अनुशासन है।

लिये उन्मुख अवश्य होंगे । जिस प्रकार जड़ता के पीछे क्रिया है, उसी प्रकार क्रिया के पीछे भी जड़ता है, जिसका फल यह होता है कि कोई भी व्यक्त पदार्थ कभी भी अनन्त काल तक सक्रिय नहीं रह सकता (सहायता मिलने पर भी नहीं रह सकता); क्रिया को जडता से अभिभूत होना ही पड़ता है । यही कारण है कि यदि कोई योगी योगशास्त्रीय उपायविशेष से शरीर को विश्राम न दे कर विनिद्र होकर ही रहना चाहे तो उसका शरीर नष्ट हो जायेगा, क्योंकि जड़ता को अभिभूत करने के लिये योगी को क्रिया का आधान निरन्तर करना पड़ेगा और एक निश्चित क्रिया को सहन करने में समर्थ शरीर इस नूतन क्रियावेग को धारण न कर सकेगा और हतबल होकर मृत हो जायेगा । (निद्रारोधकारी योगी प्रक्रिया-विशेष से जागरित रह कर शरीर को विश्राम देता है; यह प्रक्रिया शिक्षणीय है ।

जडता द्वारा कृत इस अभिभव को उपायविशेष से दीर्घकाल या अल्प काल तक अवरुद्ध रखा जा सकता है । यह उपायविशेष अध्यात्मशास्त्र में विवृत हुआ है ।

प्रसंगतः यह ज्ञातव्य है कि एक साधारण मनुष्य यदि कभी असाधारण रूप से क्रिया करे, तो अपेक्षाकृत शीघ्रता से वह जडता द्वारा अभिभूत होगा (अर्थात् निद्रित होगा); स्वशक्ति द्वारा साध्य क्रिया की अपेक्षा लघुतर क्रिया होने पर दीर्घ काल में वह व्यक्ति अभिभूत होगा, यह सहजतया समझ में आ सकता है (चिन्ता या रोग की अधिकता आदि का बलाबल भी इस पर प्रभाव डालता है) ।

निद्रा के आनयन के विषय में पूर्वाचार्यों ने एक गुढ़ तथ्य कहा है । अल्प प्रयत्न से सुखमय मृदु उच्चारण (ओंकार ही प्रशस्त है) नासिका के मूल की सहायता से करने पर शरीर और मन में एक प्रकार की निरायासता का अनुभव होता है । सुखसुप्ति के लिये गर्ग आदि आचार्यों ने जो उपाय कहे है, उनको देखने से पूर्वाचार्यों के ज्ञान की गभीरता का परिचय मिलता है । मन्त्रयोग का अभ्यास सुनिद्रा का हेतु हो सकता है । देहान्तर्गत

स्पर्शबोध को भी (प्राणायाम-अभ्यास काल में विज्ञेय) निद्रानयन-हेतु के रूप में लिया जा सकता है। पृष्ठस्थ धमनीसमूह में चित्त को निहित करने पर निद्राभाव आता है—यह योगियों की परंपरा में प्रसिद्ध है। मैं भारत के शिक्षित व्यक्तियों से अनुरोध करूंगा कि वे इन उपायों का प्रयोग करें और ऋषियों के ज्ञान की गरिमा को सर्वत्र प्रचारित करें। स्वास्थ्य-नाश-कारक बुद्धिमन्दताकारक स्लीपिंग टैबलेट इस देश का कलंक है।

निद्राबोध की पूर्णता और सापेक्षता—निद्रा के विषय में एक सूक्ष्म तथ्य की ओर मनोवैज्ञानिकों का ध्यान यहाँ आकृष्ट किया जाता है। वह है 'निद्रा की सापेक्षता'। चूंकि सभी व्यक्त पदार्थों में त्रिगुण आपेक्षिक प्राधान्य-भाव से रहते है, अतः व्यावहारिक प्रत्येक विषय के गुण, शक्ति आदि आपेक्षिक दृष्टि से ही रहते हैं तथा आपेक्षिक दृष्टि से ज्ञात भी होते हैं।

यह आपेक्षिकता चित्तपरिणामरूप वृत्ति में भी रहती है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति रूप तीन अवस्थाएँ निरन्तर आवर्तित होती रहती हैं; पर प्रत्येक की सीमारेखा अत्यन्त स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं होती—वस्तुतः अपरिवर्तनीय स्पष्ट सीमारेखा है भी नहीं। आलोक और अन्धकार तैजस परमाणु (रूप तन्मात्र) के स्तोक के भेद से होते हैं और पृथक्शः ज्ञेय भी होते हैं; पर इन दोनों की सीमारेखा स्फुट रूप से ज्ञात नहीं होती। आलोक और अन्धकार के क्रमिक प्रस्फुटत्व को देखकर यह भी निश्चित होता है कि दोनों में ही दोनों की विद्यमानता है और आधिक्य के अनुसार ही एक अवस्था को आलोक और अन्य अवस्था को अन्धकार कहा जाता है; जाग्रत् आदि तीन अवस्थाओं में भी यही बात है।

आपेक्षिक होने पर भी व्यवहारतः एक निजी प्रकाशित रूप की स्थिति माननी पड़ती है। इस दृष्टि से पृथक् रूप से ज्ञायमान होने के कारण जाग्रत् आदि तीन अवस्थाएँ मानी जाती हैं। ये तीन अवस्थाएँ एक दूसरे से आश्रित तथा अविच्छेद से संयुक्त हैं; न केवल संयुक्त, बल्कि अभिभूत दो अवस्थाएँ उदित अवस्था पर अपना प्रभाव का विस्तार भी करती हैं। यही

कारण है कि जाग्रत्काल के जागरण के भी (उत्कर्ष की दृष्टि से) कुछ अवान्तर भेद किये जा सकते हैं। इसी प्रकार स्वप्न के भी भेद हो सकते हैं; तथा सुषुप्ति के भी।

प्रमाण आदि वृत्तियों के जो उत्कर्षापकर्ष दृष्ट होते हैं, उनका भी यही कारण है। ज्ञान का जो क्रमिक उत्कर्ष देखा जाता है उसका कारण भी प्रमाणवृत्ति के साथ विपर्यय आदि वृत्तियों का संयुक्त रहना है (अल्प या अधिक मात्रा में अभिभूत होकर)। विपर्ययज्ञान का भी उत्कर्षापकर्ष इसके प्रमाणादि वृत्तियों के साथ संयुक्त रहने के कारण ही होता है। व्यावहारिक विषय में पूर्ण प्रमाणवृत्ति, पूर्ण विपर्यवृत्ति आदि होती नहीं। पर व्यवहार में किसी 'निश्चितस्थर' को 'पूर्ण' अवस्था मानकर व्यवहार मात्र किया जाता है। 'ज्ञानाच्छादक जाड्य का बोध ही निद्रा है'—इस जाड्यावस्था को भी उत्कर्षापकर्ष हैं। पर इन्द्रियादि की एक विशिष्ट अवस्था के साथ जाड्य बोध के एक स्तर को निद्रा मानकर व्यवहार किया जाता है। निद्रा की आपेक्षिकता[1] को जानकर निद्रा संबन्धी शास्त्रीय विचारों का परिज्ञान करना चाहिये।

---

१. किसी वस्तु का ज्ञान (१) ज्ञान शक्ति की तथा (२) वस्तु के परिणाम की अपेक्षा से ही होता है, अतः सभी सत्य ज्ञान आपेक्षिक सत्य ही हैं। इस अपेक्षा की व्यापकता का तारतम्य को लेकर ही 'एक सत्य अन्य से अधिक सत्य है' (अर्थात् एक की व्यापकता की अपेक्षा अन्य की व्यापकता अधिक है)-- इतना ही व्यवहारतः हम कह सकते हैं। भौतिक जगत् की तुलना में पञ्चभूत और उसकी तुलना में तन्मात्र की सत्यता अधिक है, क्योंकि इनमें अपेक्षा की क्रमिक अल्पता है। शंकराचार्य कहते हैं--इह पुनर्व्यवहार-विषय मापेक्षिकं सत्यम्.... (तै. उप० २।६)। वस्तु का यह 'अन्यापेक्ष स्वरूप' ही 'तत्त्व' कहलाता है—घट का तत्त्व मिट्टी है; घटज्ञान से मृत्तिका-ज्ञान अल्प पदार्थ की अपेक्षा करता है-- यद्धि यस्य नान्यापेक्षं स्वरूपं तत् तस्य तत्त्वम् (तै० उप० भाष्य २।८)। आपेक्षिकतावाद-संबन्धी पृथक् ग्रन्थ में इस पर विचार किया जायेगा।

निद्रा के भेद--अध्यात्मशास्त्र का यह नियम है कि प्रत्येक त्रिगुणजात पदार्थ में गुणानुसारी अवान्तर भेद अवश्य होंगे। तदनुसार तामस वर्ग में पतित होने पर भी (अर्थात् सात्त्विक ज्ञानेन्द्रिय, राजस कर्मेन्द्रिय की तुलना में निद्रा के तामस होने पर भी) निद्रा के सात्त्विक, राजस और तामस रूप भेद शास्त्र में कहे गये हैं।

सत्त्वगुण का लक्षण है--लघुता और प्रकाश भाव; तदनुसार सात्त्विक निद्रा वही है जिसमें सुखभाव अधिक मात्रा में रहता है, शारीरिक गुरुता अत्यल्प रहती है। इस निद्रा के बाद उत्थित होकर प्राणी कहता है कि मैं सुख से सोया हुआ था। रजोगुण का लक्षण है--प्रवर्तक या उद्घाटक होना और चलभाव। जिस निद्रा में सुखभाव की अल्पता है तथा शरीर में जड़ता भाव रहता है, वह राजस निद्रा है। इस निद्रा के बाद जागरित होकर प्राणी कहता है--"निद्रा से मेरी क्लान्ति दूर नहीं हुई तथा अभी तक मेरा मन चञ्चल और अस्थिर है"। तमोगुण का लक्षण है--गुरुता और आवरण भाव। तामस निद्रा में अत्यधिक मोहभाव का अनुभव होता है और जाग-होने पर शरीर में क्लान्तिभाव का बोध रहता है, साथ ही चित्त में प्रसन्नता नहीं रहती।

ध्यान देना चाहिये कि निद्रा के ये तीन भेद निद्रा के त्रिगुणजातत्व में प्रबल हेतु हैं। निद्रा में सामान्यतया सुखभाव और निरायास बोध रहने पर भी ये तीन अवान्तर भेद होते हैं। इन वैचित्र्यों का अस्फुट बोध निद्राकाल में होता ही है; यही कारण है कि निद्रा की सात्त्विकादि-प्रकृति के विषय में स्मरण भी होता है।

जो यह समझते हैं कि निद्राकाल में चित्त का वस्तुतः अपने कारण में लय हो जाता है, वे लीन चित्तगत इन अनुभववैचित्र्यों की संगति लगा नहीं सकते। यदि निद्राकालीन बोध में ये विशेष नहीं रहते, तो कथंचित् यह समझा जाता कि निद्राकाल में चित्त अपने उपादान कारण में लीन होता है। निद्रारूप तामसवृत्ति के उदयकाल में चित्तलय होने का कोई प्रसंग ही नहीं

है; जड़ता से अभिभूत होना वस्तुतः लय नहीं है। 'अभिभूत होने की स्थिति' को 'लीन होने की स्थिति' समझना असम्यक् दर्शन है, विश्लेषण करने की शक्ति की असमर्थता है। (लय = कार्य का कारण के साथ एकीभाव हो जाना)।

मादकसेवन जनित निद्रा पर कुछ कहना है। जीव, उसके इन्द्रिय-यन्त्र तथा शरीर के स्वभाव एवं परस्पर संबन्ध के विषय में जो अध्यात्म-शास्त्रीय गवेषणा है, उसके अनुसार हमारा अभिमत यह है कि मादकादि के सेवन से असाधारण उद्रेक या अवसाद होता है, जिससे सभी करणों (बाह्य तथा आन्तर इन्द्रियों) के कार्यों में अन्यथाभाव हो जाता है। इन बाह्य हेतुओं से यन्त्रों की अस्वस्थता (या कभी स्वस्थता भी) होती है, जिससे उनके द्वारा संपादनीय कार्य में विलक्षणता उत्पन्न होती है, पर किसी नयी वृत्ति का उद्भव नहीं होता। बाह्य उद्रेक से शरीरयन्त्रों में ऐसी विकृति आ सकती है, जिससे कोई अभिभूत वृत्ति सहसा उद्गत हो जाय, पर ईदृश उद्रेक किसी सर्वथा नवीन वृत्ति को उत्पन्न नहीं करता। मादक आदि निद्रा को उद्बुद्ध कर सकते ही हैं। मादकहेतुक निद्रा तामस निद्रा होगी, क्वचित् राजस भी।

निद्रा के सात्त्विकादिभेद वस्तुस्थिति के अनुसार हैं। योग-साधन की दृष्टि से भी निद्रावृत्ति के दो भेद हो सकते हैं, यथा—(१) वह निद्रा जो आत्म-बोध में स्थिति करने की अनुकूल है तथा जो त्याज्य होने पर भी योगाभ्यास काल में शरीरधारण के लिये अल्प-अत्यल्प परिमाण में स्वीकरणीय है; और (२) असाधकों की वह निद्रा जिसमें अनात्मबोध की प्रबलता है। पतञ्जलि ने (१।१) निद्रा के ये दो भेद (योगसाधन की दृष्टि से) किये हैं, इनमें प्रथम प्रकार का नाम अक्लिष्ट निद्रा और द्वितीय का नाम क्लिष्ट निद्रा है। ध्यान देना चाहिये कि क्लिष्ट निद्रा के गर्भ में भी अक्लिष्ट निद्रा सूक्ष्म रूप से रहती है और यही कारण है कि क्लिष्टनिद्राकारी व्यक्ति क्रमशः अक्लिष्ट निद्रा का अभ्यास करने में समर्थ होता है।

क्लिष्ट = क्लेशमूलक । अक्लिष्ट = क्लेश को दूर करने की चेष्टा के साथ संयुक्त । योगदर्शन में क्लेश का जो विवरण है, तदनुसार क्लिष्ट निद्रा वह है जिसका क्षय अभ्यास-वैराग्य के बल पर किया जा रहा है। ज्ञानमय धारणा, आत्मस्मृति (=सत्त्वसंसेवन) आदि द्वारा यह क्षय संभव है।

अक्लिष्ट निद्रा (जो सात्त्विक निद्रा का सर्वोत्कृष्ट विकाशभूत है) के विषय में एक तथ्य ज्ञातव्य है । कोई भी व्यक्ति यदि शारीरिक स्थैर्य (एकासन में दीर्घकाल अविचल रहने का अभ्यास), मानसिक प्रसन्नता (धारणा-विशेष के बल पर) आदि का कुछ दिनों तक अभ्यास करे, तो वह गभीर निद्राकाल में भी " मैं निद्रित हूँ" इस ज्ञान को अविचल रख सकता है । निद्रा चूंकि वृत्ति है, इसलिये चित्त द्वारा विज्ञात होना उसके लिये स्वभावतः सिद्ध है । आवरक मल से युक्त होने के कारण चित्त की ज्ञानशक्ति इस स्वकीय वृत्ति को अस्फुटरूप से ही साधारणतया जान पाती है, पर अभ्यास के बल पर कोई भी व्यक्ति चित्त को स्थिर कर निद्रावृत्ति की अवलम्बनभूत जडता को जानता हुआ ही निद्रित हो सकता है ।

निद्रा के इस प्रत्यक्ष ज्ञान के विना कोई भी साधक निद्रा की जय नहीं कर सकता । किसी पर आधिपत्य करने के लिये उस पर संयम करना पड़ता है । संयम का विषय ज्ञानगम्य होना चाहिये । निद्रावृत्ति का प्रत्यक्ष ज्ञान (घटादिज्ञान की तरह) करने के बाद ही कोई निद्रा को जीतने के लिये संयम कर सकता है ।

वात-पित्त-कफरूप त्रिदोष की दृष्टि से भी निद्रा का श्रेणीविभाग हो सकता है; ज्ञानावस्था की दृष्टि से ईदृश विभाग का कोई गुरुत्व नहीं है, अतः इसकी विवेचना यहाँ नहीं की गई है । निद्रा का संबन्ध कफ रूप दोष से प्रधानतया है । कफ गुरुत्वकारक है, जो निद्रा का भी हेतु है । इसका विशेष स्थान हृदय है; हृदय और निद्रा का संबन्ध पहले ही विवेचित हुआ है ।

विभिन्न प्रकार के जीवों की निद्रा—निद्रा के शरीरगतवृत्तिरूप होने के कारण शारीरिक प्रकृति के भेद के अनुसार निद्रा की प्रकृति में भी भेद

होंगे—यह निश्चित है। प्रत्येक जाति के शरीर की शक्तिसीमा पृथक् पृथक्
है और उस सीमा का प्रभाव सभी वृत्तियों पर पड़ता ही है। वृक्ष, पशु
मनुष्य आदि प्राणी चित्त के एक एक विकाशप्रकार पर ही आधृत हैं। इस
विकाश के अनुसार ही शरीर का भेद होता है। वस्तुतः निम्नतम उद्-
भिद् और प्राणियों के साथ उच्चतम उद्भिद् और प्राणियों की शक्ति
का जो भेद है, वह विकास के तारतम्य का ही भेद है, यह प्राचीन
आर्षमत आज के जीववैज्ञानिकों को मानना पड़ रहा है।

शरीर के रहने पर निद्रा अवश्य आयेगी—इस नियम के अनुसार वृक्ष
रूपी शरीरधारी प्राणी में भी निद्रा होगी। प्रेतशरीर (देव-नारकशरीर) में भी
निद्रा होगी और ब्रह्माण्डशरीरी हिरण्यगर्भ में भी निद्रा यथाकाल आयेगी।

देव आदि जातियों की निद्रा के विषय में सामान्य नियम यही है कि
जिस जाति में प्राण का प्राबल्य है (यथा उद्भिद् जाति) उसमें निद्रा का
अल्पप्रकटित रूप है; मनुष्यादि की निद्रावस्था जितनी स्फुटता के साथ प्रकटित
है, वृक्षादि प्राणबहुल प्राणियों में वह प्रकटितरूप नहीं है। प्राण के प्राबल्य
के अनुसार शरीर की जडता का प्राबल्य भी होता है। वृक्ष के प्राणित्व में
अनेक प्रमाण हैं[1] पर उसकी निद्रा के विषय में विशेष निर्देश प्राचीन ग्रन्थों
में सुप्राप्य नहीं हैं। कुछ विचारकों ने 'रात्रि में पत्रों के संकोच' को निद्रा
के रूप में माना है। 'पत्रसंकोच कर निद्रित होना' वर्तमान काल के वैज्ञा-
निक द्वारा भी स्वीकृत हुआ है। ईदृश निद्रा को Nyctitropic mo-
vement कहा जाता है।

देव-नारकशरीर (प्रेतशरीर) की निद्रा पर आलोचना की आवश्यकता
है। यहाँ प्रेतशरीर (प्र + इत = प्रेत) को प्रमाणित करने की चेष्टा नहीं
की जायेगी। यहाँ हम यह मानकर चल रहें हैं कि मरण के बाद प्राणी को

---

१. उद्भिद्जीवनसंबन्धी किसी ग्रन्थ में शास्त्रोक्त इन प्रमाणों की
आलोचना की जायेगी।

एक कथंचित् सूक्ष्म पर भूतनिर्मित (विशेषनिर्मित शरीर) शरीर मिलता है—यही प्रेतशरीर है। इस शरीर से ही पुण्य और पाप कर्म के अनुसार सूक्ष्मलोक में सुख (देव शरीर द्वारा) और दुःख (नारक शरीर द्वारा) का भोग होता है। उपभोग के क्षय होने पर प्रेतशरीरी यथायोग्य शरीर ग्रहण करने के लिये उपयोगी लोक में अभिव्यक्त होता है।

यह प्रेतशरीर मूलतः मनःप्रधान है, अतः चित्त जब तक सक्रिय और जडता से अनाच्छन्न रहता है तब तक वह शरीर जीवित रहता है। सूक्ष्म शरीर मनःप्रधान है, अतः मन के अजड़ रहने पर ही संकल्पजनित शरीर तथा इन्द्रियाँ व्यक्त (सक्रिय) रहेंगी। चूँकि निद्रा में शरीर जड़ीभूत हो जाता है, इसलिये संकल्प आदि का बल नहीं रह सकता। इसलिये यह निश्चित है कि निद्राभाव के उदय होने पर प्रेतशरीरी के शरीर-इन्द्रियादि की मृत्यु हो जायेगी। हम कह सकते हैं कि असुषुप्ति का संस्कार ही सूक्ष्म शरीर की आयु है। सुषुप्तिसंस्कार के उठने पर प्रेतशरीर संकुचित होकर पिण्डवत् होता है और प्रेतशरीरी का मरण होना अनिवार्य हो जाता है। स्थूल शरीर में निद्रा का जो परिमाण था, उसके आधार पर कोई भी सूक्ष्मदर्शी व्यक्ति यह कह सकता है कि सूक्ष्म शरीर की आयु सामान्यतया कितनी होगी।

प्रसंगतः हम विश्वशरीरी **सृष्टिकर्ता हिरण्यगर्भ की निद्रा** के विषय में संक्षिप्त आलोचना करना चाहते हैं। ब्रह्माण्डसृष्टिकारी प्रजापति हिरण्यगर्भ भी प्राणवान् जीव हैं। प्राण होने के कारण उनका शरीरधारी होना अनिवार्य है। उनमें स्थूल शरीर धारण का संस्कार न होने के कारण उनका शरीर अस्मितामय है। सर्वभावाधिष्ठातृत्व-संस्कार के कारण प्रजापति की अस्मिता ग्राह्यभावापन्न होती है। इस ग्राह्यभावापन्न अस्मिता का पारिभाषिक नाम भूतादि है, जो बाह्य विषयों का मूल है। ब्रह्माण्ड रूप विराट् शरीर के मूल होने के कारण यह 'वैराज अभिमान' कहलाता है। वैराज अभिमान से ब्रह्माण्ड का जो सूक्ष्मतम रूप अभिव्यक्त होता है, वही

हिरण्यगर्भ का शरीर है। शरीरी होने के कारण प्रजापति के चित्त में भी निद्रा आयेगी—यही प्राकृतिक नियम है। निद्रा आने पर उनका चित्त रुद्ध होगा और उनके चित्त में प्रतिष्ठित यह लोकालोकमय ब्रह्माण्ड अपने उपादान में लीन होगा—यही प्रलय है। ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ की निद्रा से प्रलय होता है—यह श्रुति-स्मृति-पुराणों में कहा गया है।

हम लोगों के शरीर हमारी अस्मिता के ही स्थूल रूप नहीं हैं, अतः हमारी अस्मिता के रुद्ध होने पर हमारे शरीर अस्मिता-उपादान में लीन नहीं होते; शरीर को छोड़ने पर वह यथायोग्य उपादान में विलीन होता है। यह ब्रह्माण्ड प्रजापति की अस्मिता का ग्राह्यीभूत रूप है, अतः निद्रा-हेतुक चित्तलय होने पर चित्तप्रतिष्ठ ब्रह्माण्ड भी लीन होगा। ब्रह्माण्ड प्रजापति के भूतादि नामक तामस अस्मिता में लीन होगा; यह भी प्रजापति की महदात्मा में लीन होगी और यह महदात्मा अपने उपादान अव्यक्त प्रकृति में लीन होगा—यह प्रक्रिया अध्यात्मविदों ने स्पष्टतया कही है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि जगत् तत्त्वतः सत्त्वरजस्तमः-प्रकृतिक है; अतात्त्विक दृष्टि से ही जगत् ईश्वरप्रकृतिक कहलाता है [ईश्वर का वैराजाभिमान तन्मात्र का मूल है, इस दृष्टि से[1]]।

निद्रारोध—अध्यात्मशास्त्रों में 'निद्रा सर्वात्मना त्याज्या' (शान्ति० २१६।१) कहा गया है। योगविरोधी १० उपसर्गों में निद्रा अन्यतम है, यह देवलमत मोक्षकाण्ड में उद्धृत है (पृ० २१२)। अतः यहाँ निद्रा रोध के उपायों की चर्चा की जा रही है। यह निद्रारोध अनिद्रारूप रोग नहीं है। योगशास्त्रोक्त उपायविशेष के बल पर स्वेच्छया निद्रा पर जो क्रमिक आधिपत्य होता है, जिस आधिपत्य के साथ चैत्तिक प्रसन्नता नीरोगता, ज्ञानालोक की स्वच्छता और अन्तःप्रज्ञा का स्फुरण आदि होते रहते हैं, वही अध्यात्मशास्त्रोक्त निद्रारोध है। अनिद्रारोग में

१. द्र० मेरा प्रकाश्यमान ग्रन्थ—तन्मात्र तथा विश्व का मनोमय मूल

पूर्वोक्त एक भी गुण नहीं होता, यह भेद विशेषतः द्रष्टव्य है। साधकों को अनिद्रारोग से बच कर निद्रारोध के लिये प्रयास करना चाहिये। शास्त्र में योगियों का 'अनिद्र' या 'विनिद्र' विशेषण आया है, अतः यह अवस्था काल्पनिक नहीं है। ऋग्वेद के 'तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते'(१।२२।२१) मन्त्र में जागृवान् शब्द इस अवस्था का निर्देशक है। निद्रारोध के विषय में पहली बात यह है कि जिस हेतु से निद्रा आती है यदि उस हेतु को क्षीण या पूर्णतः नष्ट कर दिया जाय तो निद्रा भी क्षीण या पूर्णतः नष्ट होगी। निद्रारोधेच्छु को पहले निद्रा के पूर्वोक्त कारणों का ज्ञान करना चाहिये।

तदनुसार क्रियाहेतुक शारीरिक क्षय के रोध के लिये पहले प्रयास करना होगा। प्रतिक्षण कर्म करते रहने से शरीर में क्षय होता है, उससे अवसन्नता आती है जिसकी प्रतिक्रिया के रूप में निद्रित होना अनिवार्य हो जाता है। वस्तुतः शारीरिक कर्म अल्प किये विना निद्रारोध के लिये कथमपि उद्यम नहीं करना चाहिये।

शारीर कर्म की अल्पता के बाद शारीरिक स्थिरता का अभ्यास करणीय है। निद्रारोध का यह प्रथम सोपान है। अंगमेजयत्व (व्यर्थ ही अंगों को हिलाना) को रुद्ध करना ही होगा तथा अधिकतर समय किसी ध्यानासन (पद्म, सिद्ध आदि)में बैठने का अभ्यास करना होगा। प्रसंगतः यह ज्ञातव्य है कि पद्मासन आदि किसी ध्यानासन में ही दीर्घकाल तक बैठा जा सकता है। जिस किसी भी 'सुखासन' में दीर्घकाल तक बैठने पर शरीर में विकलता होने की संभावना होती है। आसन का गुण सुखकरत्व (आरामप्रद होना) ही नहीं, स्थैर्यकरत्व भी अत्यावश्यक गुण है। जिस किसी रूप से आराम कर बैठने से वह स्थैर्यकारक नहीं होता, यह जानकर सावधानी रखनी चाहिये। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए व्यवस्थितरूपेण हठयोगीय आसन और मुद्रा का अभ्यास किया जा सकता है।

किन्हीं विशिष्टशरीरधारियों में ईदृश शारीरिक स्थैर्य के विना भी

ज्ञानाभ्यास से ही भले ही निद्रारोध हो जाय, सामान्य नियम यही है कि शरीरस्थैर्यपूर्वक ही निद्रारोध होगा।

प्राणायाम का अभ्यास निद्रारोध के लिये बाह्य सर्वोत्तम उपाय है। शरीर के तामस मल के दूरीकरण के साथ-साथ देहात्म-बोध का क्षीणीकरण भी प्राणायाम द्वारा होता रहता है। ये दो निद्रारोध के परम सहायक हैं। खेचरी मुद्रा की सिद्धि होने से निद्रा पर बहुत कुछ आधिपत्य होता है, क्योंकि इस मुद्रा से शारीरिक क्षय का रोध होता है (गोरक्षपद्धति १।३४)। मैंने खेचरीकारी को एकाधिक दिन एक शिला पर बैठकर जाग्रत् अवस्था में रहते देखा है। अतः यह मत परीक्षणसिद्ध है।

शारीरिक शुद्धि चाहे कितनी ही हो, मानसिक स्थिरता जब तक नहीं होगी तब तक निद्रा का प्रकृत रोध अणुमात्र भी नहीं होगा। मानसिक स्थैर्य के विना यदि प्रक्रियाविशेष के बल पर निद्रारोध किया जाय (ऐसा किया जा सकता है) तो वह प्रकृत योग की दृष्टि से व्यर्थ ही होगा। निद्रारोध होने पर भी चित्त अस्थिर होकर निरन्तर विषय में संचार करता रहेगा। ईदृश अनिद्र व्यक्ति में बाद में क्रूर कर्म आदि दोषों की उत्पत्ति होती है, यह ज्ञातव्य है।

त्राटक क्रिया का प्रभाव निद्रारोध पर अत्यधिक मात्रा में पड़ता है। योगग्रन्थों में त्राटक क्रिया को 'निद्रा का कपाट' कहा भी गया है। त्राटक के विषय में यह सावधान वाणी सबको सुननी चाहिये कि किसी बिन्दु पर 'टकटकी लगाकर देखना' मात्र त्राटक क्रिया नहीं है; ऐसा करने पर दूरदृष्टि नष्ट (मायोपिया रोग) होगी। प्रयत्नशून्य होकर ही इसका अभ्यास करना चाहिये; यह अभिज्ञ व्यक्ति के माध्यम से शिक्षणीय है। (**वर्तमान लेखक ने कभी ग्रन्थों को पढ़कर त्राटक का अभ्यास किया था, जिसका कुफल अभी तक भोगना पड़ रहा है**)।

यह जो 'मानसिक स्थैर्य का अभ्यास' निद्रारोधार्थ कहा गया है, इसका प्राचीन नाम था 'सत्त्वसंसेवन' या 'तत्त्वसंवेदन', 'सत्त्वसेवन' या 'ज्ञाना-

भ्यास'[1] । इस 'सत्त्वसंसेवन' का अर्थ आहारशुद्धि आदि स्थूल उपाय नहीं है, क्योंकि आहारशुद्धि (अन्नग्रहणशुद्धि) चाहे कितनी ही की जाय, निद्रारोध पर उसका प्रत्यक्ष प्रभाव बहुत ही अल्प है (हाँ, अमित-अहित-अमेध्याहार निद्रारोध का विरोधी अवश्य है) । 'आत्मबाह्य में अवस्थित' रूप से इष्टदेव की चिन्ता करने पर निद्रारोध नहीं होगा, यह ज्ञातव्य है ।

यह सत्त्वसंसेवन एक गूढ़ योगाभ्यास है—सत्त्व (= बुद्धि = ज्ञानात्मा) में स्थित रहने का प्रयास करना ही सत्त्वसंसेवन है; इस अभ्यास से वस्तुतः निद्रा क्षीण होती है, यह कोई भी परीक्षा कर देख सकता है । संसेवन = किसी में अच्छी तरह से लगा रहना । 'मैं जान रहा हूँ' इस प्रकार ज्ञान में निरन्तर स्थिति करने की चेष्टा ही यह अभ्यास है ।

यह सत्त्वसंसेवन ईदृश ज्ञान में स्थिति करने की चेष्टा ही है, यह 'ज्ञानाभ्यासाज्जागरणम्' (शान्ति० २१६।३) इस शास्त्रवाक्य से भी जाना जा सकता है । साधारण रूप से ज्ञानाभ्यास का जो अर्थ किया जाता है, वह वस्तुतः ज्ञानाभ्यास नहीं है, क्योंकि मोक्षशास्त्रपठन और साधारण युक्ति से मनन रूप ज्ञानाभ्यास से कभी भी निद्राजय नहीं होती; बल्कि सत्य बात तो यह है कि शास्त्रपाठ-चिन्तनरूप क्रिया से क्लान्त होकर सुनिद्रा ही होती है । पूर्वोक्त ज्ञानात्मा में स्थिर रहने के प्रयत्न से शरीर और मन में सात्त्विक स्वच्छता आती है सुतरां श्रम की प्रतिक्रियाजनित निद्रा नहीं आती । ज्ञानात्मा-परक चिन्तन का साधन-संकेत कठ उप० १।३।१३ में है । अस्वस्थ मनोवृत्तिवालों के लिये यह उपाय यदि कौशलविशेष से प्रयुक्त हो तो अत्यन्त फलदायक होता है ।

यह भी ज्ञातव्य है कि श्रम की प्रतिक्रिया से उत्पाद्य निद्रा के न आने पर ही निद्रारोध हो गया, ऐसा नहीं समझना चाहिये । निद्रारोध के लिये

---

१. द्र० शान्ति० २३९।६; २७३।५; ब्रह्मपु० २३५।४१; शान्ति० ३०१।५७; भागवत ७।१५।२४ ।

किसी एक आध्यात्मिक देश में चित्त का बन्ध आवश्यक है। इस बन्ध के विना निद्रारोध प्रायशः कृत्रिम होता है।

हम साधकों को आश्वस्त करना चाहते हैं कि चित्तबन्धपूर्वक निद्रारोध का अभ्यास सुष्ठुरूपेण होने पर स्मृति का असाधारण विकास आदि कुछ निम्नस्तर की सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। कोई भी अभ्यास कर इन बातों की सत्यता की परीक्षा कर सकता है। जहाँ सिद्धि की उत्पत्ति नहीं है, वहाँ योगजात निद्रारोध नहीं है, यह ज्ञातव्य है।

निद्रा आत्मबोध की विस्मृति है, अतः जो एकाग्रभूमि में पहुँचकर योग-साधन करता है, वह निद्रा के ऊपर उठ जाता है। उनको स्वप्न भी नहीं होता, क्योंकि स्वप्न विपर्ययप्रधान अवस्था है, उसमें संस्कारों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है; यह आत्मविस्मृत अवस्था है, अतः वशी योगी को स्वप्न भी नहीं होता।

पाञ्चभौतिक देह के लिये विश्राम अवश्य चाहिये, अतः प्रश्न होगा कि क्या 'संप्रज्ञातयोगावस्था' में योगी कभी भी निद्रा का आश्रय ग्रहण नहीं करते ? उत्तर में अवश्य ही कहना होगा कि–नहीं; कभी भी उनको आत्म-विस्मृति रूप निद्रा नहीं आती। ईदृश योगी अविचल आत्मस्मृति में रहकर (किसी आसन में बैठकर ही) शरीर को विश्राम देते हैं। निद्रा के परिणाम को देखकर ही कौन किस स्तर का योगी है, यह समझा जा सकता है।[1]

अतिनिद्रा आदि भेद—साधारण निद्रा में शरीर स्थिर रहता है (प्राणों की क्रिया परिपाकादि के रूप में चलती रहती है), पर उत्स्वप्न नामक निद्रा में कर्मेन्द्रियाँ सक्रिय हो जाती हैं। निद्रित व्यक्ति घूमता-फिरता है—ऐसा भी देखा गया है। यह वस्तुतः एक रोग है। (चिकित्साशास्त्र में

---

१. संप्रजन्य के साधक बौद्धयोगियों में निद्रारोध में प्रकर्ष-प्राप्त साधक मैंने देखा है। ऐसा सुना जाता है कि भगवान् बुद्ध शरीर को स्थिर रखकर एकाग्र स्मृति के बल पर शरीर को निद्रासुख देते थे।

इस रोग का विवरण द्रष्टव्य)। इसका हेतु यह भी है कि यह व्यक्ति जागरितावस्था में अस्वस्थता का कटु अनुभव करता है। ऐसे लोगों में मानसिक अस्वस्थता के कुछ लक्षण प्रायेण मिल जाते हैं।

दिवानिद्रा अत्यधिक निन्दनीय है। दिवानिद्राकारी की मेधा अत्यन्त दुर्बल हो जाती है और वह किसी भी अध्यात्मशास्त्र की चिन्ता को समझने में असमर्थ रहता है। वर्तमानकाल के दिवानिद्राकारी शास्त्राध्येता इस आर्ष नियम के जाज्वल्यमान उदाहरण हैं।

अतिनिद्रा (जिस जाति के शरीरधारी के लिये जो निद्रा दीर्घ-स्थायी है) भी एक रोग है और यह शरीरयन्त्रों की विशेष प्रकार की क्रिया (असमंजस क्रिया) से उत्पन्न होती है। अतिनिद्रा की ज्ञात घटनाओं को देखने से पता चलता है कि ये सब प्रायेण चित्तेन्द्रिय की असमंजस क्रिया से होती हैं। अल्पनिद्रा उन्मत्त-प्राय अवस्था से भी हो सकती है। उन्मत्तप्राय अवस्था जिस प्रकार की होगी उसके अनुसार निद्रा का प्रकार निर्भर करता है—यह सामान्य नियम है।

असमंजस निद्रा के विषय में हम इतना ही कह सकते हैं कि इन्द्रियों के व्यापारों की स्थूलता और सूक्ष्मता का परिणाम असंख्यप्राय है; यही स्थिति मानसिक व्यापार की भी है; शरीरोपादान की प्रकृति भी अनन्त वैचित्र्यमय है, अतः अतिनिद्रा, अल्पनिद्रा आदि विचित्रताओं का होना एक प्राकृतिक व्यापार ही है, इसमें कोई अलौकिकता नहीं है।

योगाभ्यास के अन्तर्गत एक स्मृतिसाधन-प्रक्रिया है, जिसमें ग्रहीतृभाव की ओर लक्ष्य रखकर ग्राह्य विषयों पर उदासीन मनोभाव (अर्थात् रागद्वेषहीन होकर उपस्थित विषय को ज्ञेयमात्र के रूप में लक्ष्य करते रहना) रखने का अभ्यास किया जाता है। इस अभ्यास में भी कभी कभी ग्रहीतृभाव विस्मृत हो जाता है और एक मोहप्रधान स्तब्धभाव में अवश होकर चित्त चलता रहता हैं। इस अवस्था में निद्रित व्यक्ति की तरह श्वास-प्रश्वास चलते रहते हैं, ऐसा देखा गया है। पर यह न प्रकृत चित्तरोध है और

न इसमें निद्रा का ही 'आनन्द' मिलता है। इस अवस्था में भी असाधारण मानस शक्ति (विशेषतः संमोहनशक्ति) का विकाश हो सकता है। यह भी योगविरोधी अवस्था है, क्योंकि इसमें द्रष्टा का भाव प्रकटित नहीं रहता। आधुनिक मनोविज्ञानी को इस अवस्था पर विचार करना चाहिये।

दीर्घकालीन निद्रा (१।२ मास पर्यन्त निद्रित रहना) के कुछ उदाहरण प्रसिद्ध हैं; चिकित्साशास्त्रसंबन्धी प्रामाणिक पत्रिकाओं में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं (प्राचीन काल का कुम्भकर्ण भी उदाहार्य है)। यह कादाचित्क है, पर शारीरिक प्रकृति के असाधारण परिवर्तन से ऐसा होना सर्वथा संभव है। इस निद्राकाल में क्षुधादि का बोध नहीं रहता; शरीर के लावण्य में उल्लेखनीय परिवर्तन भी नहीं होता। एक प्रकार के कृत्रिम 'स्तम्भितप्राण' अवस्था में रहने के कारण शरीर सजीव ही रहता है। हां, निद्राभंग के बाद असाधारण दुर्बलता का बोध होगा। कुछ सर्प आदि पशु जो दीर्घ काल तक निद्रावस्था में प्रतिवर्ष रहते हैं, वह भी इस अवस्था का ही कार्य है। यह कृत्रिम रोध ज्ञानहीन है। हठप्रक्रिया से भी ईदृश रोध (श्वासादि सहित) हो सकता है। रणजीत् सिंह के काल में हरिदास योगी ने जो रोध (मिट्टी के भीतर में रहकर) किया था, उसके साथ यह तुलनीय है। [तात्कालिक कई ग्रन्थों में यह घटना उक्त हुई है]।[1]

समाधि आदि अन्य अवस्थाओं के साथ निद्रा का भेद—बाह्य सादृश्य को लेकर कुछ लोग समाधि आदि को निद्रा या तज्जातीय अवस्था समझते हैं। उनको जानना चाहिये कि वृत्तिरोध रूप समाधि के साथ रुद्धावस्थारूप निद्रा का बाह्य सादृश्यमात्र है, पर दोनों अवस्थाएँ आलोक और

---

1. The Court and Camp of Runjeet Singh by W. G. Osborne; Thirty-five Years in the East by Dr. J. M. Honigberger, Physician to the Court of Lahore. pp. 126–130; इस मोहनिद्रा के विषय में Human Hybernation by Braid द्रष्टव्य है।

अन्धकार की तरह परस्पर विरुद्ध हैं। निद्रा में जो वैषयिक ज्ञान की अस्फुटता होती है वह जडताप्रयुक्त होती है, मोहपूर्वक होती है तथा ज्ञाता जीव उस अवस्था में पूर्ण स्ववश नहीं रहता। समाधि स्ववश और स्वेच्छासाध्य है। इसमें किसी ध्येय तत्त्व में स्वेच्छया चित्त स्थित होता है, अतः अन्य विषय का ज्ञान नहीं होता। समाधि में प्राण का कार्य रुद्ध होता है; यह कार्य निद्रा में क्षीणरूप से चलता है, जो अनुभवयोग्य है।

प्रकृतवृत्तिरोध-कालीन मन या चित्त की स्थिति और सुषुप्तिकालीन उसकी स्थिति एक प्रकार की नहीं है, यह पूर्वाचार्यों ने दिखाया है। प्रकृत रोध में तत्त्वज्ञानरूप आलोक रहता है, निद्रारूप मूढ़ावस्था में नहीं—यह सत्य ही है। यथार्थ वृत्तिरोध के साथ शक्ति का विकाश अवश्य होता है, निद्रा में विभूतिरूप शक्तिविकाश नहीं होता[१]।

मृत्यु और मूर्छा के साथ निद्रा के भेद पर अब विशेष कुछ कहना आवश्यक नहीं रह गया है। प्राणव्यापार के एक एक प्रकार के निरोध (जो कृत्रिम है) और स्तब्धीभाव से इन अवस्थाओं का सम्बन्ध है। गाढ़निद्रा के साथ इन अवस्थाओं का सादृश्य भी है। यथार्थ मृत्यु से पहले प्राणन-क्रिया स्तब्ध हो जाती है और मोहावस्था आती है। मर्मों का छेदन होना

---

१. सुप्तावस्था की उपमा मुक्तावस्था से दी जाती है। न्यायभाष्य में कहा गया है—'एतच्च ब्रह्मविदो मुक्तस्यात्मनो रूपमुदाहरन्ति' (४।१।६३)। चाञ्चल्याभावरूप सादृश्य दोनों अवस्थाओं में है, पर निद्रा में जो चाञ्चल्याभाव है वह कृत्रिम है, जैसा कि बार-बार हमने कहा है। तात्पर्यटीकाकार ने कहा है कि रागादि का संस्कार सुषुप्ति में रहता ही है। मुक्तावस्था संस्कारशून्य है। सुषुप्ति में दुःखहीनता की जो कृत्रिम स्थिति होती है, इस के लिए ही सुप्त जीव की ईश्वरवत् स्तुति की गई है—यह शिवगीता आदि में कहा गया है। इस अवस्था में परमात्मविषयक वास्तव बोध नहीं रहता, यह भी कहा गया है।

मृत्यु का अपरिहार्य निमित्त है, जो निद्रा में नहीं होता[१]। मृत्यु में स्थूलशरीर से सूक्ष्मशरीर (विशेषनिर्मित शरीर) निर्गत हो जाता है तथा यान्त्रिक क्रियाएँ पूर्णतः समाप्त हो जाती हैं। निद्रा में परिपाकयन्त्रादि की क्रिया चलती रहती है।

मृत्यु की तरह मृतवत् अवस्था (अर्थात् मृतवत् अवस्था में रहकर पुनः जीवित होना) भी होती है। इस अवस्था में मन के सूक्ष्मकार्य विद्यमान रहते हैं, अतः निद्रा की अपेक्षा यह स्फुटतर ज्ञानावस्था है; इस अवस्था से स्वप्नावस्था का निकटसाम्य है। Human Personality आदि ग्रन्थों में ईदृश अवस्थाओं के कई विवरण सुरक्षित हैं[२]।

शरीरधर्मरूप निद्रा—निद्रा केवल शारीरिक क्रिया का बल है—इस मत में कई असंगतियाँ हैं। प्रत्येक प्राणी में ज्ञान-चेष्टा-संस्कार रूप जो तीन मूल वृत्तियाँ हैं, उनके परस्पर योग से जितनी घटनाएँ घटती हैं, उन सब घटनाओं की व्याख्या मस्तिष्क की क्रिया से अभी तक नहीं की जा सकी है। नाडी आदि से पृथक् तथा स्वतन्त्र सत्तावान् 'मन' नामक दैशिक परिमाणशून्य किसी पदार्थ को माने विना अनेक आन्तर व्यापारों

१. 'मर्म के स्वरूप' और 'मृत्यु के साथ उसके सम्बन्ध' पर हमारा विशेष वक्तव्य है, जो यहाँ कहा नहीं गया।

२. मुद्‌गर आदि के अभिघात से जो मूर्छावस्था होती है, वह भी अज्ञान-बहुल है। इस अवस्था में प्राणनक्रिया धीर गति से चलती ही है अतः यही मानना होगा कि आघातजनित (यह आघात मानस भी हो सकता है) प्रतिक्रिया से शारीर यन्त्र (इन्द्रियाधिष्ठान) के व्यापार की विकलतामात्र होती है। अवस्थाविशेष में उचित हेतु होने पर मूर्छा के बाद मृत्यु हो सकती है, ठीक जैसे निद्रा का औषध अधिकमात्र में खाने पर गाढ़ निद्रा के बाद यान्त्रिक क्रिया में (उत्कट अन्य हेतु से) तीव्र विकलता आयेगी और इन्द्रियादि के बलाबल के अनुसार यदि यान्त्रिक क्रिया नष्ट हो जाय तो मृत्यु होगी। मूर्छा और मरण पर पृथक् ग्रन्थ में विचार किया जायेगा।

की संगत उपपत्ति नहीं की जा सकती। शरीर के वश में प्राणी के अंशतः रहने के कारण निद्रा आदि प्राणिचित्तधर्मों पर शरीर का आधिपत्य अवश्य ही रहता है। युद्धक्षेत्र के पूर्ण उत्तेजक परिस्थिति में भी क्लान्त सैनिक निद्रित हो जाता है—इससे निद्रा पर शारीरिक प्रभाव की गंभीरता जानी जा सकती है। यह आधिपत्य स्थूलतः हृदयदेश और सूक्ष्मतः मस्तिष्कदेश में है।

रक्त के संचार के साथ निद्रा का कोई निश्चित संबन्ध प्राणियों में एकरूप से नहीं होता। निद्रा आदि अवस्थाओं पर विभिन्न शरीर-अवयवों के प्रभाव विशेषतः होते ही हैं। 'कण्ठे स्वप्नं समादिशेत्' यह योगियों का कथन है। इसकी सत्यता स्थूल प्रयोग से भी जानी जाती है[१]। भ्रूमध्य में लक्ष्य स्थिर कर सुषुप्तिभावना की बात कही गई है। यह आज्ञाचक्र-स्थान है। इसमें दो दल हैं, जो बाह्यदृष्टि से Corpus striatum और optic thalamus होंगे। प्राण वायु की क्रिया को इसी स्थान पर रुद्ध किया जाता है (लयस्थानं वायोः....); अतः निद्रा के साथ आज्ञाचक्र सुतरां भ्रूमध्य का संबन्ध स्पष्ट होता है। शरीरविद्या से इसकी पुष्टि कहाँ तक होती है, यह गवेषणीय है; पर ईदृश प्रभाव शरीरविशेष की रचना पर निर्भर करता है।[२]

---

१. Thus it is known that when the large blood vessels of the neck (through which blood is delivered to the brain) are compressed a state of unconsciousness resembling sleep is instantly evoked (Sleep Hypnosis Dreames, by prof. L. Rokhin, p. 16)

२. शारीरिक गवेषणा से यह प्रमाणित हो सकता है कि किस विशेष शरीरयन्त्र का प्रभाव निद्रोत्पत्ति में रहता है। परीक्षण के द्वारा इस विषय में जो भी मत निर्धारित हो उससे हमारा कोई विरोध नहीं है। 'शारीरयन्त्रों की क्रिया से ही उत्पन्न एक अवस्था निद्रा है', इस मत (The chemical thory of sleep) के हम विरोधी हैं। घटित घटनाओं के आधार

निद्राकाल में नाडीसंस्थान का कार्य जिस रूप से चलता है, कृत्रिम रूप से भी उस परिस्थिति को उत्पन्न किया जा सकता है और परिस्थिति के उत्पन्न होने पर निद्रा आयेगी ही। पर यह निद्रा स्वाभाविक निद्रा की तरह श्रमहारक तथा सुखकारक नहीं होती। वर्तमान काल में यह artificial sleep विकसित अवस्था में प्रयुक्त हो रही है।

निद्रा के ज्ञानवृत्तिरूप होने पर भी शारीरिक और मानसिक क्लान्ति ही निद्रा का हेतु है, अतः मस्तिष्कस्थित चेष्टाप्रधान अंश का आधिपत्य निद्रा पर आधिक्येन है, यह निश्चित है। लघुमस्तिष्क (cerebellum) चेष्टा का प्रधान केन्द्र है; उसी प्रकार ग्रन्थिस्थान (Medulla) प्राण का प्रधान केन्द्र है। निद्रा में प्राण का आधिपत्य पहले दिखाया गया है। लघुमस्तिष्क दक्षिण दिशा में नीचे की ओर है। ध्यानविशेष से इस अंश में शीतलता का बोध होता है। इस शीतलताबोध से शारीरिक और मानसिक क्लान्ति दूर होती है, अतः निद्रा पर विजय करने के लिये क्षुद्रमस्तिष्क पर दृष्टि देनी चाहिये। मन्त्र का उच्चारण न कर मन्त्रार्थ की चिन्ता द्वारा आत्मबोध का स्मरण जब किया जाता है, तब उस बोध का स्थान मस्तिष्क का पश्चाद् भाग ही होता है। इस साधन में इस स्थान को ज्योतिर्मय आध्यात्मिक देश के रूप में सोचना पड़ता है।

अहम्-भाव के दो अंश हैं—शारीरिक भाव एवं मानसिक भाव। मैं शरीर में हूँ—इस भाव का केन्द्रस्थान हृदयदेश है। पर 'मैं' का आन्तर रूप मन है; मस्तिष्क मन (ज्ञानेन्द्रिय के साथ) का केन्द्र है; अतः हृदयदेश तथा मस्तिष्कदेश पर आधिपत्य हुए विना चित्त को सम्यक् विश्राम नहीं दिया जा सकता। शारीर अभिमान एवं मानस अभिमान के केन्द्ररूप इन

पर इस मतवाद को प्रमाणित करना असंभव है। नाडी के प्रभाव को लेकर जो Theory of a subcortical centre of sleep प्रचलित है, वह अध्यात्मशास्त्र द्वारा अनुमोदित है (चित्तधर्म के स्वीकार के साथ)।

दो स्थानों का जो भेद बाह्य दृष्टि से है, वह योगसाधन के उच्चस्तर में नहीं रहता।

निद्राकालीन विशिष्ट घटनाएँ—निद्राकाल में (विशेषतः सात्त्विक निद्रा में) नाना प्रकार की विशिष्ट घटनाओं का उल्लेख मिलता है। सात्त्विकनिद्राकाल में अनागत घटनाओं का ज्ञान होना इसका एक उदाहरण है। पतञ्जलि ने स्वप्नज्ञान और निद्राज्ञान का आश्रय कर चित्त को 'स्थितिप्राप्त' करने का उपदेश दिया है (१।३८)। यह बहुत ही कार्यकर उपदेश है और सभी इसका अभ्यास कर इसकी सत्यता की परीक्षा कर सकते हैं। हमने पहले ही कहा है कि निद्राकाल में बाह्य और मानस ज्ञान तमः से अभिभूत हो जाते हैं और जड़ता का अस्फुट अनुभव रहता है। कुछ ऐसे लोग हैं जो कल्पना के बल पर ईदृश शून्यवद् भाव को मन में ला सकते हैं। इस भाव को चित्त में उठाकर स्मृति के बल पर ध्यानाभ्यास करने का एक उपाय योगियों ने कहा है; यह सफल उपाय है। **निरन्तर भयग्रस्त अथवा अलीक चिन्ता से कातर लोगों को इस उपाय से सुफल मिल सकता है।**

सात्त्विक निद्रा में अनेक सूक्ष्मविषयों का ज्ञान कभी कभी होता है। इसका हेतु यह है कि सात्त्विक निद्रा में अल्पकाल के लिये चित्त में स्वच्छता (अर्थात् वह स्थैर्य जिसमें प्रकाशभाव भी प्रचुरमात्रा में है) आ जाती है जिससे आवरक मल के नष्ट होने पर ज्ञानशक्ति अपने से संबद्ध सभी विषयों को प्रकटित करने में समर्थ हो जाती है। ज्ञानशक्ति अन्तःकरण का धर्म है; अन्तःकरण की देशव्याप्ति न रहने के कारण सर्व द्रव्यों के साथ उसका सम्बन्ध विद्यमान ही है। **इस संबन्ध के कारण ही अस्थिर चित्त के द्वारा अविज्ञेय अनेक विषय निद्राकालीन स्थिर चित्त (प्रकाशयुक्त होकर) द्वारा विज्ञात हो जाते हैं।** मनश्चाञ्चल्य, इन्द्रियाभिमान और शरीराभिमान से संकीर्ण हो जाने के कारण ज्ञान सर्वावभासक होकर भी अल्प ज्ञेय को ही प्रकाशित करता है। निद्राकालीन स्थैर्य यदि किसी

हेतु से सात्त्विकता से युक्त हो जाय तो ज्ञेय पदार्थ की विपुल परिणामसमष्टि का ग्रहण बुद्धि करेगी और सूक्ष्म (अर्थात् अतीत और अनागत) परिणाम का भी ज्ञान होगा। यह ज्ञातव्य है कि स्वप्न रजःप्रधान है, अतः स्वप्न-कालीन सूक्ष्म ज्ञान निद्राकालीन सूक्ष्मज्ञान (सात्त्विकता के आवेश होने पर) की तुलना में अधिक यथार्थ नहीं होता। ये सब परीक्षित सत्य हैं।

यह सभी जानते ही हैं कि कभी कभी निद्रा में (या स्वप्न में) अतीत घटनादि का ज्ञान होता है (दूरस्थ पुत्र की पीड़ा का ज्ञान, अपनी मृत्यु का ज्ञान आदि इसके उदाहरण हैं)। प्रिय पुत्र के साथ मन का आकर्षण चूँकि रहता है, अत: किन्हीं कारणों से सात्त्विक निद्रा होने पर इस आकर्षण बल से प्रभावित होकर स्थिर ज्ञानशक्ति पीडारूप दूरस्थ घटना को प्रकाशित कर देती है। पुत्र के साथ माता का जो सक्रिय मानस सम्बन्ध है, वह सम्बन्ध कभी कभी माता की तामस निद्रा का नष्ट कर उसके स्थान में सात्त्विक निद्रा लाता है, ऐसा भी किन्हीं स्थलों में मानना पड़ता है। चूंकि ईदृश घटनाओं का अपलाप नहीं किया जा सकता, इसलिये उपर्युक्त व्याख्या उचित ही प्रतीत होती है (विशेष कर जब संबन्ध के विना ज्ञान का उद्रेक कल्पनीय नहीं हो सकता)।

किसी समस्या को लेकर प्रबल चिन्ता करते हुए सो जाने पर कभी-कभी निद्रा के बाद तत्काल ही अपने आप उसका समाधान बुद्धि में उपस्थित हो जाता है। सात्त्विक निद्रा के आवेश से बुद्धिगत स्थैर्य का विकसित होना इसका हेतु है। **निद्राकाल में मस्तिष्क सम्यक् क्रियाहीन नहीं होता, यह भी इसका एक प्रमाण है**। निद्रा में भी उस समस्या से सम्बद्ध चिन्तन की अवस्थिति संस्कार रूप में सुप्त थी, अतः उत्थित होने की क्रिया (रजः) से सत्त्वगुण के प्रकटित होने के कारण कचित् प्रकाश का अतिरेक होने पर पूर्वोक्त फल उदित होता है। सत्त्व के प्रकटीकरण में रजः ही

सहायक है, अतः पूर्वाचार्यों ने 'रजसा उद्घाटितं सत्त्वम्' ईदृश वाक्य बहुशः कहा है।[१]

निद्रा की सदृश स्थितियाँ—जीव की निद्रावस्था के साथ प्रलयावस्था का सादृश्य है, इसलिये शास्त्रों में प्रलय के वर्णन में तमोभूत' 'अलक्षण' 'प्रसुप्तमिव' आदि शब्द प्रयुक्त हुये हैं। प्रलयकाल में सृष्टिकारी प्रजापति का मन (यही मन ग्राह्यभूत होकर प्राणियों के विषय के रूप में आता है)[२] रुद्ध हो जाता है, अतः उनके मन में प्रतिष्ठित यह जगत् भी ग्राह्य-अवस्था से रहित हो जाता है। यह तैल-हीन दीप की अवस्था की तरह है, अतः निद्रावस्था की सदृश है। प्रलय के सादृश्य से निद्रा को भी प्रलय कहने की परिपाटी है। 'दैनन्दिन प्रलय' 'ब्रह्माण्ड की निद्रा है' ऐसा दत्तात्रेय नुगामी कहते ही हैं।

प्रलय के साथ निद्रा के इस सादृश्य के कारण शास्त्रों में अनेक विशिष्ट कथन मिलते हैं। 'निद्रा का आरंभ', 'निद्रा से जागरण' आदि अवस्थाओं के साथ ब्रह्माण्ड-अभिव्यक्ति की जो तुलना की गई है, वह कल्पना वस्तुतः सत्य ही है। सृष्टिकर्ता प्रजापति का ब्रह्माण्डरूप शरीर है, अतः शरीरधारी होने के कारण प्रजापति की निद्रा होगी; अनादिमुक्त ईश्वर में यह निद्रा संभव नहीं है, क्योंकि उनके चित्त से क्लेश आदि का संपर्क नहीं है। क्लेशादि के रहने पर शरीर का रहना अनिवार्य है।

निद्रातीत अवस्था—निद्रा की अतीत अवस्था का विवरण देकर यह निबन्ध समाप्त किया जा रहा है। यह निद्रातीत अवस्था अभी तक मनोविज्ञान का विषय न हो सका; चित्त के उपादान का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से जब

---

१. एनार्जि विभिन्न रूपों में परिणत होकर ही उपलब्ध होती है—यह वैज्ञानिक दृष्टि इसके साथ तुलनीय है।

२. द्र० मेरा 'तन्मात्र (अणु) तथा विश्व का मनोमय मूल' ग्रन्थ जो प्रकाशित होने वाला है।

तक नहीं होगा तब तक इस निद्रातीत अवस्था को लेकर मनोविज्ञानी कोई विचार नहीं कर सकते।

अध्यात्मशास्त्र का कहना यह है कि जिन तीन सत्त्व आदि गुणों (द्रव्य रूप) से चित्त निर्मित है, उन गुणों के दो धर्म हैं—व्यक्त और अव्यक्त। व्यक्त-अवस्था में स्थित त्रिगुण का एक परिणाम चित्त है और इस व्यक्त चित्त के ही तीन धर्म हैं—जाग्रत्, स्वप्न और निद्रा। जब तक चित्त व्यक्त रहेगा तब तक ये तीन धर्म उपयोगी हेतु द्वारा प्रादुर्भूत एवं लीन होते रहेंगे। चित्त को यदि सदाकाल के लिये अव्यक्त कर दिया जाय तो उस अव्यक्तीभूत चित्त में ये तीन धर्म उदित न होंगे। व्यक्त चित्त को अव्यक्त करने के उपाय अध्यात्मशास्त्र में कहे गये हैं। यह अव्यक्त-अवस्था निद्रातीत है क्योंकि इस अवस्था में निद्रा आविर्भूत नहीं हो सकती। इस अवस्था में चित्त दुःखातीत हो जाता है, क्योंकि दुःखोत्पादक क्रिया चित्त को चञ्चल नहीं कर सकती। यही मुक्त चित्त की स्थिति है।

नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः

पातञ्जल-वैयासिकभाष्य-व्याख्या

व्याख्याकार : डा० रामशंकर भट्टाचार्य

इस व्याख्या में व्यासभाष्य में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द का अर्थ संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, धर्मसूत्र, निरुक्त, ज्योतिष, आयुर्वेद, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, महाभारत, रामायण, स्मृति, पुराण, उपपुराण, आगम, तन्त्र, बौद्ध जैन-साहित्य आदि की सहायता से निश्चित किया गया है। भाष्य में उद्धृत प्रत्येक मत का विशदीकरण मूल ग्रन्थों के आधार पर किया गया है। वाचस्पति आदि भाष्यटीकाकार तथा भोज, रामानन्द आदि योगसूत्रटीकाकारों के मतों की समीक्षा सर्वत्र की गयी है तथा प्रयोग-परीक्षण-विरुद्ध व्याख्यानों का खण्डन भी किया गया है। आधुनिक मनोविद्या, पदार्थविद्या, चिकित्साविद्या आदि की सहायता से योगशास्त्रीय मतों का जो उपबृंहण एवं पुष्टि की गयी है, वह प्रत्येक विचारक के लिए दर्शनीय है।

यह ग्रन्थ डा० भट्टाचार्य के विगत १५ वर्षों के एकाग्रतापूर्वक अध्ययन-मनन का फल है। ग्रन्थ की रचना द्रुतगति से चल रही है।

कई भाषाओं में यह ग्रन्थ प्रकाशित होगा।

●

डा० रामशंकर भट्टाचार्य कृत ग्रन्थ

संस्कारः चित्त का अज्ञात भाग

प्राणी के ज्ञान और चेष्टा के पीछे सूक्ष्म संस्कार का बल है, यह आधुनिक मनोविज्ञान भी मानता है। यह सूक्ष्म संस्कार मन का अपरिदृष्ट धर्म है, जिस पर आधिपत्य किये बिना प्राणी का जीवन परवश, दुश्चिन्तामय एवं हताशापूर्ण हो जाता है। संस्कार के कारण-कार्य को अध्यात्मशास्त्र ने पूर्णतः खोल दिया है; इस ज्ञान के आलोक से कोई भी व्यक्ति क्रियमाण कर्म की प्रकृति को जान सकता है तथा अपनी मनोवृत्तियों को वश में कर सकता है। इस ग्रन्थ में मन के अलक्षित अंशों को जानकर उन पर आधिपत्य करने के उपाय कहे गये हैं।

जड़ और चेतन

अध्यात्मशास्त्र में उक्त 'जड़-चेतन' के लक्षण क्या हैं? क्या कोई पदार्थ पूर्णतः जड या पूर्णतः चेतन हो सकता हैं? अनुभवगम्य सभी जड़ पदार्थ क्या वस्तुतः पूर्ण जड़ हैं या जड़-चेतन-संघात हैं? यदि संघात हैं तो पाषाण आदि में चेतन भाव की उपलब्धि क्यों नहीं होती? 'जड़ शरीर' कहने का अभिप्राय क्या है? इन प्रश्नों पर विचार कर यह दिखाया गया है कि वस्तुतः पूर्ण जड़ और पूर्ण चेतन (अपरिणामी ज्ञाता) हैं तथा प्रत्येक प्राणी इन दोनों का समाहारभूत है। साथ ही यह भी दिखाया गया है कि प्रत्येक 'जड़ कण' किसी न किसी प्राणी का शरीर है और उपयोगी बाह्य परिस्थिति मिलने पर वह कण प्राणी शरीरवत् आचरण करेगा। प्राणी के ज्ञेय विषय के साथ प्राणी का जो सूक्ष्म सम्बन्ध है वह भी ग्रंथ में दिखाया गया है।

डा० रामशंकर भट्टाचार्य कृत ग्रन्थ

तन्मात्र (अणु) तथा विश्व का मनोमय मूल

हिन्दू विश्वविद्यालय के पदार्थ शास्त्र (Physics)-अध्यापक
डा० द्विजेन्द्रलाल भट्टाचार्य कृत प्राक्कथन के साथ

इस ग्रन्थ में दिखाया गया है कि तन्मात्र न atom है, न molecule है, न वैशेषिकोक्त अणु है और न इसी प्रकार का कोई अन्य पदार्थ है। यह उपलब्धियोग्य है, अनुमेयमात्र नहीं। ग्राह्य शब्द-स्पर्शादि गुणों का सूक्ष्मतम-अवस्था-रूप तन्मात्र किस प्रणाली से साक्षात्कृत होता है तथा इस तन्मात्रज्ञान का उपयोग किस प्रकार से किया जा सकता है—इत्यादि विषय विस्तार के साथ प्रतिपादित हुए हैं। इस 'सूक्ष्मतम अवस्था' का स्वरूप क्या है इसकी वैज्ञानिक व्याख्या की गई है। क्यों कोई मानस पदार्थ ही बाह्य विषय का मूल होगा—यह अकाट्य तर्कों से दिखाया गया है और यह भी दिखाया गया है कि तन्मात्रतत्त्व को वैज्ञानिक दृष्टि से खण्डित नहीं किया जा सकता। विज्ञानवाद, शून्यवाद, अजातवाद आदि वादों की उद्भावना क्यों की गई, यह भी प्रसंगतः विचारित हुआ है; यह भी दिखाया गया है कि विश्वमूलसम्बन्धी वैज्ञानिक गवेषणा भी तन्मात्र और उसके उपादान रूप अस्मिता की ओर ही जा रही है।

पञ्चभूत तथा बाह्य विस्तार (स्पेस)

भौतिक जगत् का विश्लेषण पञ्चभूतों में किस प्रकार से किया गया इसके विवेचन के साथ बाह्य विस्तारबोध का कारण तथा बाह्य ज्ञान की आपेक्षिकता आदि भी विचारित हुये हैं।